वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च

(संस्कृत-हिन्दी)

वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं

की

ऐतिहासिक मीमांसा

युधिष्ठिर मीमांसक

वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च

(संस्कृत-हिन्दी)

वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं

की

ऐतिहासिक मीमांसा

युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़, सोनीपत (हरयाणा)
पिन-१३१०२१

द्वितीय संस्करण—२००
आश्विन सं० २०४७
मूल्य—१५-००

★
★★

मुद्रक—
रामकिशन सरोहा
सरोहा प्रिंटिंग प्रेस
बहालगढ़, सोनीपत
हरयाणा-१३१०२१

विषय-सूची

पृष्ठ

ओ३म्

ऋषियों का महत्त्वपूर्ण आदेश

स्वाध्यायान्मा प्रमदः

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्

वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।

आचार्य समावर्तन के समय स्नातक को जो उपदेश वा आदेश देता है, उसमें एक वचन है–'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'अर्थात् स्वाध्याय से प्रमाद मत कर। स्वाध्याय शब्द 'सु+आ+अध्याय' तथा 'स्व(स्य) अध्यायः' इस तरह दो प्रकार से निष्पन्न होता है। इन दोनों का अर्थ निम्न प्रकार है—

१—अच्छा अध्ययन अर्थात् वेदादि सच्छास्त्रों का अध्ययन।

२—अपना अध्ययन, अर्थात् आत्मा तथा शरीर आदि के तत्त्वज्ञान के लिये प्रयत्न।

ये स्वाध्याय शब्द के यौगिक अर्थ हैं, किन्तु जहां-जहां स्वाध्याय के लिये शास्त्रकारों ने आदेश दिया है,वहां-वहां केवल यौगिक अर्थ अभिप्रेत नहीं है। 'पङ्कज' आदि शब्दों की तरह वह भी विशेषार्थ में नियत है। शतपथ के 'अर्थात् स्वाध्यायप्रशंसा' नामक ब्राह्मण, तथा मीमांसकों की मीमांसानुसार यह पद केवल वेदाध्ययन के लिये प्रयुक्त होता है। अतः 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' वाक्य का विशिष्ट अर्थ यह हुआ कि 'वेदाध्ययन में प्रमाद मत कर'। इसी प्रकार 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्' का अर्थ होगा—वेद के अध्ययन और अध्यापन में प्रमाद मत कर।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि ये दोनों आदेश एक गृहस्थ में प्रवेश करनेवाले स्नातक के लिए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक गृहस्थी को वेद के अध्ययन और अध्यापन करने का आदेश दिया जा रहा है। भगवान्

मनु गृहस्थ धर्म प्रकरण में लिखते हैं—

नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ।

अर्थात् 'नित्यप्रति वेद और सत्यशास्त्रों का अवलोकन करना चाहिये'। तैत्तिरीयोपनिषद् (शिक्षावल्ली ९) में लिखा है—

'तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च, दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च,······ प्रजननं च स्वाध्यायप्रवचने च, प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च'।।

अर्थात् 'तप शम दम अग्निहोत्र आदि तथा धर्मपूर्वक सन्तानादि की उत्पत्ति करते हुए भी स्वाध्याय और प्रवचन करते रहना चाहिये'। स्वाध्याय अर्थात् स्वयं अध्ययन और प्रवचन अर्थात् दूसरे को पढ़ाना। इन वाक्यों का भी तात्पर्य यही है कि— वेद का पढ़ना-पढ़ाना प्रत्येक अवस्था में अवश्य करना चाहिये, कभी छूटना नहीं चाहिये। इसीलिये स्वाध्याय और प्रवचन पद प्रत्येक वाक्य में पढ़े गये हैं। इनसे यह भी प्रतीत होता है कि वेद का पढ़ना-पढ़ाना प्रतिदिन का आवश्यक कर्म है।

'स्वाध्याय' योग का एक अंग है— महर्षि पतञ्जलि ने स्वाध्याय को नियमों के अन्तर्गत माना है। और स्वाध्याय का फल स्वयं बतलाया है— '**स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः**' (योग २।४४)। अर्थात् 'स्वाध्याय से इष्टदेव परमात्मा की प्राप्ति होती है।' महर्षि वेदव्यास ने योग १।२८ सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।।

स्वाध्याय से योग=चित्तवृत्तियों के निरोध की प्राप्ति करे, योग=चित्तवृत्तियों का निरोध करके स्वाध्याय=वेद का अध्ययन करे। स्वाध्याय और योग की सम्मिलित शक्ति से आत्मा में भगवान् स्वयं प्रकाशित हो जाते हैं। यह है स्वाध्याय का महान् फल।

महर्षि याज्ञवल्क्य शतपथ के स्वाध्याय के प्रकरण में लिखते हैं—

'यदि ह वाभ्यङ्क्तोऽलंकृतः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीते, आ हैव नखाग्रेभ्यस्तपस्तप्यते, य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते'। शत० ११।५।१।४।।

अर्थात् 'जो पुरुष अच्छी प्रकार अलंकृत होकर सुखदायक पलङ्ग पर लेटा हुआ भी स्वाध्याय करता है, तो मानो वह चोटी से लेकर एडी पर्यन्त तपस्या कर रहा है। इसलिये स्वाध्याय करना चाहिये।'

कई सज्जन कहते हैं कि वेद के स्वाध्याय में मन नहीं लगता। रूखा विषय है, सरस नहीं। यह कहना बहुत अंश में ठीक है, किन्तु इसमें भी दोष हमारा ही है। सरसता प्रत्येक पुरुष की अपनी-अपनी रुचि पर निर्भर होती है। बहुत लोग गणित को शुष्क विषय कहते हैं, किन्तु जो उसके वेत्ता हैं उन्हें वह विषय इतना प्रिय होता है कि उसमें वे अपनी सुध-बुध भी भूल जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि जिस पुरुष की जिस विषय में प्रगति होती है उसके लिये वह विषय सरस है, अन्य के लिए रूक्ष। इस रूक्षता को हटाने का एक मात्र साधन है—निरन्तर अध्ययन। जो पुरुष दो चार दिन पढ़कर आनन्द उठाना चाहते हैं, उन्हें कभी भी लाभ नहीं हो सकता। उसके लिये निरन्तर स्वाध्याय की आवश्यकता है। अतएव प्राचीन महर्षियों ने स्वाध्याय को दैनिक कार्य मानकर नैत्यिक पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत स्थान दिया है। और इसीलिये इसे संसार का सब से महान् तप कहा है। मनुजी (४।२०) कहते हैं—

यथा यथा हि पुरुषः, शास्त्राणि समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति, विज्ञानं चास्य रोचते॥

"पुरुष जैसे-जैसे अपने शास्त्राध्ययन को बढ़ाता जाता है, वैसे-वैसे उसका ज्ञान बढ़ता है, और उसमें उसे रुचि पैदा होती है, तत्काल नहीं।"

महर्षि दयानन्द ने प्रत्येक आर्य के लिये दश आदेश दिये हैं, जिन्हें मानकर ही आर्यसमाज का सदस्य बन सकता है। मानने का अभिप्राय सदा तदनुसार कर्म करना होता है। एक सामान्य नियम है कि—

'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते'।

'पुरुष जिस बात को अपने मन से सोचता है, उसे वाणी द्वारा प्रकट करता है। जिसे वाणी द्वारा प्रकट करता है, उसे कर्म द्वारा करता है। जिसे कर्म द्वारा करता है, वैसा ही बन जाता है।'

अब हमारे सामने प्रश्न आता है कि जिन नियमों को हम आर्यसमाज का सदस्य बनते हुए स्वीकार करते हैं, क्या हमारी वह स्वीकृति हृदय से होती है वा दिखावटी? इनकी कसौटी हमारे कर्म हैं। यदि उन नियमों के अनुसार हमारे कर्म हैं, तो मानना होगा कि हम उन नियमों को हृदय से मानते हैं। अन्यथा यही कहा जाएगा कि सदस्य बनने के लिये दिखावटी स्वीकृति है।

महर्षि दयानन्द ने आर्य-समाज के दस नियमों में तीसरा नियम यह लिखा है—

"वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

ऋषि ने वेद का पढ़ना अर्थात् स्वाध्याय, पढ़ाना अर्थात् प्रवचन, ये दोनों बातें संगृहीत करते हुए 'सुनना' और 'सुनाना' पद विशेष रखे हैं। यदि ये पद न रखे होते, तो कोई पुरुष यह कह सकता था कि हमें पढ़ना नहीं आता, किन्तु यहां तो यह समस्या पहले ही हल कर दी गई है। जो पढ़ नहीं सकता वह सुने। जो सुनाने में समर्थ हो, उसका भी कर्तव्य है कि वह सुनावे। इस नियम में धर्म शब्द कर्तव्य का वाचक है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या आर्यसमाज के सदस्य इस नियम को हृदय से मान रहे हैं? स्पष्टतया कहा जा सकता है कि नहीं। क्योंकि आर्यसमाज के सदस्यों में सम्प्रति स्वाध्याय की रुचि ही नहीं है।

आर्य व्यक्तियों से कहते सुना जाता है कि आजकल समाज में पूर्व जैसा उत्साह नहीं। बात सोलह आने सत्य है। पर किसी ने इस बीमारी का निदान भी किया है? इस बीमारी का कारण है वेद के स्वाध्याय का अभाव। वेद आर्यों का धार्मिक अर्थात् कर्तव्यबोधक ग्रन्थ है। यह आर्य जाति की संस्कृति का आदि-स्रोत तथा केन्द्र है। जब हम उस स्रोत तथा केन्द्र से विमुख हो जाते हैं, तभी हममें शिथिलता उत्पन्न होती है। मुसलमानों में अपने मत के प्रति कितना उत्साह है। उसका प्रमुख कारण कुरान का प्रतिदिन स्वाध्याय है। हिन्दुओं में इतनी हीनता और कुरीतियां क्यों उत्पन्न हुईं? इसका उत्तर भी यही है कि उन्होंने अपने मूलभूत वेदों को छोड़कर साम्प्रदायिक ग्रन्थों और पुराणों को ही अपनाना प्रारम्भ कर दिया। आर्य-समाज के प्रारम्भिक आर्यों में जो महान् उत्साह था, उसका कारण धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन ही था। स्व० श्री पं० क्षेमकरणदासजी को कौन नहीं जानता। अपने राजकीय नौकरी से ५५ वर्ष की अवस्था के पश्चात् मुक्त होकर संस्कृतभाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया। और बड़ौदा राज्य की तीन वेदों की राजकीय परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। तत्पश्चात् उस अथर्ववेद का भाष्य रचा, जिस पर सायण का भी पूर्ण भाष्य उपलब्ध नहीं होता। क्या अब भी कोई कह सकता है कि संस्कृत और वेद कठिन हैं? संसार में कठिन कुछ नहीं, मन की पूरी लगन चाहिये, सब काम पूरे हो जाते हैं। कठिन कहना तो अपने आलस्य-दोष को छिपानेमात्र के लिये है।

इसलिये आर्यों का परम कर्त्तव्य है कि यदि वे स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनसे प्राचीन मनु, याज्ञवल्क्य, पतञ्जलि, वेदव्यास आदि के कथन पर थोड़ी भी श्रद्धा रखते हों, तो वेद, उपनिषद्, गीता, षड्दर्शन आदि उत्तमोत्तम ग्रन्थों का नित्य स्वाध्याय करें। जो सज्जन केवलमात्र हिन्दी जानते हैं, वे उक्त ऋषियों के ग्रन्थों का हिन्दी के माध्यम (=अनुवाद) से स्वाध्याय कर सकते हैं। इससे उन्हें अपनी संस्कृति से प्रेम उत्पन्न होगा। जातीयता का उद्बोधन होगा, और उत्साह की वृद्धि होगी। यदि आर्य जाति संसार में जीवित जागृत रहना चाहती है, तो उसे वेद को आगे करके सब कार्य करने होंगे। यदि आर्यसमाज 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की उक्ति चरितार्थ करना चाहता है, तो उसे आचार्य द्रोण के शब्दों में घोषणा करनी होगी—

अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठतः सशरं धनुः।
उभाभ्यां हि समर्थोऽस्मि शापादपि शरादपि॥

चारों वेदों को आगे (=हृदय) में, तथा पीठ पर शरयुक्त धनुष् को धारण करके कहना चाहिये कि मैं शाप और शर (शास्त्रार्थ तथा शस्त्रार्थ) दोनों में समर्थ हूं, जिसका जी चाहे परीक्षा करलो। इसके बिना न कभी 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का लक्ष्य सफल हो सकता है, और न अपनी वा अपने देश की उन्नति हो सकती है। अतः प्रत्येक आर्य का कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन (चाहे समय थोड़ा ही लगावे) वेद का स्वाध्याय अवश्य करे। अतः मेरी प्रत्येक वैदिक मतानुयायी से विनम्र प्रार्थना है कि अपने वा समाज के कल्याण के लिये वा देश के समुत्थान के लिये दैनिक स्वाध्याय का व्रत लें।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ यजुः १९।३०॥

—:o:—

वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च

ओ३म् बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥
ऋ० १०।७१।१॥

विज्ञातं हि समेषामपि विदुषां यद्वेदा अस्माकं वैदिकधर्मानुयायिनां प्राणभूता वर्तन्ते । आजन्मन आमरणान्तमस्माकं सर्वेऽपि संस्कारा आभ्युदयनैःश्रेयसिका व्यवहाराश्च वेदानेव प्राधान्येनोपजीवन्ति । सम्प्रत्यपि धर्मप्रधानानाम् आर्याणां वेदा एव प्रमाणभूताः सन्ति । अतएव आस्माकीनैर्ब्राह्मणैरद्यपर्यन्तं ते तथा महता प्रयत्नेन कण्ठस्थीकृत्य सुरक्षीकृताः, येन तेष्वेकत्रापि स्वरमात्रावर्णविपर्यासो नोपलभ्यते ।

सत्येवं जायते विचारणा, यत् किमत्र कारणं येन वैदिकमतानुयायिनः प्राधान्येन वेदमेवाश्रयन्ति ? तत्रैतिहासिकदृष्टयाऽनुशीलने कृते सति ज्ञायत एतद् यद् भगवन्तं ब्रह्माणमारभ्य आस्वामिदयानन्दं[1] ये केऽपि महर्षयो मुनय आचार्याश्च संबभूवुः, ते सर्वेऽपि 'वेदाः सर्वविद्यानां भूतभव्यभविष्योपयोगिनां ज्ञानानामाकरग्रन्थाः' इति मेनिरे । वेदेषु यादृशं सूक्ष्मं प्रत्यक्षाविषयीभूतं ज्ञानं वर्तते[2], न तादृक् क्वचिदन्यत्रोपलभ्यते । अत एव चाह भगवान् स्वायंभुवो मनुः—

'सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ।
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥

---

१. द्र०—'संस्कृतसाहित्यस्यारम्भ ऋग्वेदात् भवति, समाप्तिश्च स्वामिदयानन्दस्य ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकात्' इति मोक्षमूलरः ('हम भारत से क्या सीखें'—इत्यस्य तृतीये भाषणे, पृष्ठ १०२) ।

२. पदार्थविज्ञानविषये वेदेषु महती दक्षता वर्तते। द्र०—पूनानगरे स्वामिदयानन्दस्य वेदविषयकं पञ्चमं व्याख्यानम् (पूना-प्रवचन, पृ० ४४) ।

'पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यमप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥' इति।
मनुस्मृतौ १२।१००,९७,९९,९४॥

एतत्सर्वमभिसमीक्ष्यैव भगवता मनुनाऽन्यत्राऽपि महता कण्ठेनोक्तम्—'सर्वज्ञानमयो हि सः'[1] (२।७) इति।

अयमेव राद्धान्तस्तत्रभवता कृष्णद्वैपायनेनाऽपि प्रतिपादितः। तथाहि—
'यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्॥' इति।
महाभारते, अनु० १२२।४॥

परमब्रह्मिष्ठेन याज्ञवल्क्येनाऽप्युक्तम्—
'न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्'॥ इति।
(द्र०—बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतौ अ० १२।१, स्मृतिसन्दर्भे
भाग ४, पृ० २३३४)

यद्येवं वेदा एव सर्वविधज्ञानस्य निधयः, तर्हि किमर्थं तत्तच्छास्त्राणां प्रवचनमकारि महर्षिवृन्दैरिति चेदुच्यते—

यदा सर्गादावपरिमितशक्तिप्रभाप्रभाववीर्या धर्मसत्त्वशुद्धतेजसोऽपरिमितबुद्धयः साक्षात्कृतधर्माणो मनुष्या बभूवुः, ते वेदादेव सर्वविधं ज्ञानमाददते स्म। नासीत्तदानीं वेदातिरिक्तं किमप्यन्यच्छास्त्रम्। यदा तूत्तरकालं मानवाः क्रमशोऽपचीयमानसत्त्वा उपचीयमानरजस्तमस्का[2] अल्पमतय उपदेशेनाऽपि मन्त्रान्तर्गता विविधा विद्या विज्ञातुम् असमर्था बभूवुः, तदा तावृशानल्पमेधसो[3] मनुष्यान् विविधा विद्या ग्राहयितुं तत्तच्छास्त्राणां प्रवचनमकार्षुर्महर्षयः। अयमेव च शास्त्रावतारेतिहासस्तत्रभवता यास्केनेत्थं प्रत्यपादि—

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः, तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य

१. द्रष्टव्या मेधातिथिगोविन्दराजादिविरचिता मनुस्मृतेष्टीका।

२. द्र०—पाराशरीयज्योतिषसंहिताया वचनम्—'पुरा खलु अपरिमितशक्तिप्रभाप्रभाववीर्या······ धर्मसत्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः। तेषां क्रमादपचीयमानसत्वानां उपचीयमानरजस्तमस्कानां········' (एतच्च भट्टोत्पलेन बराहमिहिरकृतबृहत्संहिताटीकायां पञ्चदशे पृष्ठ उद्धृतम्)। आयुर्वेदीयचरक-संहिताया विमानस्थाने तृतीयाध्याये—'आदिकाले··' इति च।

३. द्र०—काशिका ५।४।१२२॥

उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु'र्वेदं च वेदाङ्गानि च । इति ।' निरुक्ते १।२०॥

इममेव चेतिहासमनुसृत्य भगवता याज्ञवल्क्येनाऽप्युक्तम्—

'दुर्बोधं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते ।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम् ॥' इति ।
(द्र०—बृ० या० स्मृ० अ० १२।२)

महाभारते भगवता वेदव्यासेनाऽपि लिखितम्—'वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य'[२] (महाभारते शान्ति० २८४।९२) इति ।

अपि च—इदानीं शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्दोज्योतिष-धर्मशास्त्र-पदार्थविज्ञान-साहित्य-कला-शिल्प-राजनीति-आयुर्वेद–धनुर्वेद–गान्धर्ववेद-वास्तु-शास्त्रादीनां ये ये आकरभूता ग्रन्था उपलभ्यन्ते ते सर्वेऽपि स्वस्वविषयस्य वेदमूलतां महता कण्ठेनोद्घोषयन्ति । विस्तरभिया कानिचिदेव प्रमाणानि प्रस्तूयन्ते—

(१) ज्योतिषाचार्य आर्यभट्टः स्वग्रन्थान्ते ज्योतिश्शास्त्रस्य वेदमूलकतां संगिरते ।

(२) आयुर्वेदशास्त्रम् अथर्ववेदस्योपाङ्गमिति भगवान् सुश्रुतो ब्रवीति—'इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य ।' सू० अ० १॥

(३) पदार्थविज्ञानप्रतिपादकं वैशेषिकशास्त्रमपि वेदमूलकमिति भगवान् कणादः प्रतिजानीते । तथा ह्याह—

'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ।' वै० १।१।३॥

अस्यायमर्थः—'तद्वचनात् 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' इत्येवं प्रतिज्ञातस्य

---

१. समाम्नासिषुरित्यस्य रचितवन्त इत्यर्थः कैश्चिद् व्याख्यातृभिः क्रियते । स चाशुद्धः । प्राचीनेन निरुक्तवार्तिककृताऽयं निरुक्तांश एवं व्याख्यायते—'अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे तथा । वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः'॥ इति । अयं निरुक्तवार्तिकश्लोको ग्रन्थो हस्तलिखितोऽस्मत्सकाशे विद्यते । स्वामिदयानन्देन स्वीयर्ग्वेदादिभाष्यभूमिकायामुक्तनिरुक्तांशव्याख्याने समाम्नासिषुरित्यस्य 'अभ्यासं कारितवन्तः' इत्यन्तर्भूतण्यर्थः स्वार्थिकणिचि वार्थः कृतः।

२. अयं षडङ्गो द्वारो भगवता शिवेन कृतः । बृहस्पतिनापि षडङ्गप्रवचनमकारि—'वेदाङ्गानि तु बृहस्पतिः' । महाभा० (दा० सं०) शान्ति० ११८।३२॥

वैशेषिकप्रतिपाद्यस्य पदार्थधर्मस्य वचनात्[१] प्रतिपादनात् आम्नायस्य प्रामाण्यं भवति।

अत्रेदमपि ज्ञेयं यद् भगवान् कणादो न केवलं 'वेदाः पदार्थधर्मप्रतिपादकाः' इति प्रतिज्ञामेव कृतवान् अपितु तत्प्रकरणे तत्तत्पदार्थधर्मप्रतिपादनाय श्रुतिप्रामाण्यमप्युदाहृतवान्। तद्यथा—

(क) हिमकरकादीनामुत्पत्तिः तेजःसंयोगाद् भवतीति प्रतिपाद्य दिव्यास्वप्सु तेजःसंयोगो भवतीति प्रतिपादयन् वैदिकं च (५।२।१०) इति सूत्रेण वैदिकवचनमपि प्रमाणयति। यथा—

'या अग्नि गर्भं दधिरे विश्वरूपास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु।'
तै० सं० ५।६।१॥

'आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।'
ऋ० १०।१२१।७॥

'वृषाऽग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम्।' यजु० ११।४६॥

'योऽनिध्मो दीदयद् अप्स्वन्तः।' ऋ० १०।३०।४॥

इत्येवमादीनि[२] बहूनि वचनानि वेदेषूपलभ्यन्ते।

(ख) शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं चेति विवृण्वन् अतीन्द्रियमयोनिजं शरीरं प्रतिपादयन् 'वेदलिङ्गाच्च' (४।२।११) इति सूत्रेणायोनिजशरीरप्रामाण्याय वैदिकं लिङ्गमुपस्थापयति। तच्च—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥' ऋ० १०।९०।१२॥

इत्येवमादि द्रष्टव्यम्[३]।

अस्मिन्मन्त्रे 'अस्य' पदेन विराण्नामकः पुरुषः परामृश्यते। स एव पुरुषः

---

१. सम्प्रत्युपलभ्यमानेषु व्याख्यानेषु 'तत्'पदेन 'ईश्वरः' गृह्यते। तच्चिन्त्यम्, सर्वनाम्नां पूर्व-परामर्शित्वात्।

२. उपस्कारव्याख्यानेऽन्यानि वचनान्युद्धृतानि, तान्यप्यत्र द्रष्टव्यानि।

३. वैशेषिकोपस्कार एतद्व्याख्याभूतं किञ्चिल्लुप्तब्राह्मणमप्युद्ध्रियते—'तथाहि ब्राह्मणम्—प्रजापतिः प्रजा अनेका असृजत्। स तपोऽतप्यत प्रजाः सृजेयमिति। स मुखतो ब्राह्मणमसृजत बाहूभ्यां राजन्यम् ऊरुभ्यां वैश्यं पद्भ्यां शूद्रमिति।' ४।२।११॥

वैदिकग्रन्थेषु सर्गप्रकरणेषु प्रजापति-हिरण्यगर्भ-सुवर्णाण्ड-महदण्डादिभिः शब्दान्तरैः स्मर्यते ।

(४) भगवान् न्यायसूत्रकारो गोतमोऽपि अतीन्द्रियविषयकं विज्ञानं प्रतिपादयतो वेदभागस्य प्रामाण्यनिदर्शनायाह—

'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्याच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ।।'

न्याय० २।१।६८।।

मन्त्रेषु य [1]आयुर्वेदः प्रत्यक्षविषयीभूत उपदिश्यते, तस्यावितथं प्रामाण्यं लोकविज्ञातम् । तस्य प्रामाण्यादतीन्द्रियविज्ञानप्रतिपादकस्यापि वेदभागस्य प्रामाण्यम् । यतः य एव आप्त ईश्वरः प्रत्यक्षविषयीभूतस्यायुर्वेदविषयकस्य वेदभागस्य कर्ता, स एवातीन्द्रियविषयकस्यापि वेदभागस्य रचयिता । तस्मादेककर्तृकत्वादतीन्द्रियविषयकस्यापि वेदभागस्य प्रामाण्यं स्वीकर्तव्यं भवति ।

सत्येवं सर्वविद्यानामाकरभूतान् वेदान् यदि वैदिकधर्मानुयायिनः प्राणादपि प्रियान् संजानते, तर्हि किमत्राश्चर्यम् ?

सम्प्रति वेदार्थविषयमवलम्ब्य किंचिदुच्यते—बहोः कालात् वेदप्रतिपाद्यविषये विप्रवदन्ते वैदिका विद्वांसः । यजुर्वेदस्य कः प्रतिपाद्यविषय इत्यत्राह सायणाचार्यः—

'तस्मिश्च वेदे द्वौ काण्डौ—कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च । बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डः, तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम् । तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादिकर्मण एव [2]प्रतिपाद्यत्वात् इति' । काण्वसंहिता-भाष्योपोद्घाते ।

इत्थमेवान्यवेदानां विषयेऽपि ज्ञेयम् ।

वेदाङ्गज्योतिषेऽप्युक्तम्—"वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः' इति ।

एतेन स्पष्टमेव यन्मन्त्रसंहितासु केवलं कर्मकाण्ड एव प्रतिपाद्यत इति ।

अस्तु, यदि हि नाम वेदानां प्रयोजनं द्रव्ययज्ञसंपादनमेव, हन्त ! समाप्त-

---

१. अस्य सूत्रस्य व्याख्यातारो मन्त्रायुर्वेदयोर्द्वन्द्वसमास इति मन्यन्ते ।

२. सायणीयमिदं वचनं चिन्त्यम् । संहितायाश्चत्वारिंशत्तमेऽध्याये ब्रह्मविषयस्य प्रतिपादनात् । अत एवायमध्याय ईशोपनिषन्नाम्ना व्यवह्रियते न चात्र सायणवचने भूमान्यायः प्रसरति । शतपथान्तर्गतस्य बृहदारण्यकाख्यस्यैकदेशस्य पृथङ्निर्देशात् ।

मेव वेदानां सर्वविद्यामूलकं प्राचीनैर्महर्षिवर्यैरुद्घोषितं मतम् । तस्मात् पुरस्तान्निर्दिष्टैः प्रमाणैः प्रतिपादितस्य प्राचीनाचार्यसमुपबृंहितस्य 'वेदाः सर्वविद्यानामाकरग्रन्थाः' इति मतस्य रक्षार्थं वेदानामनेकार्थप्रतिपादनशक्तिरवश्यमुररीकर्तव्या । तथा सत्येव वेदानां वास्तविकं महत्त्वमुपपादयितुं शक्यते, नान्यथा ।

सा च मन्त्राणामनेकार्थता न स्वच्छन्दसाऽऽश्रयितुं शक्या, अपितु प्रतिपाद्यविषयभेदात् सर्वत्र व्यवस्थिता वर्तते । सा च व्यवस्था प्राचीनैर्महर्षिभिः त्रिविधप्रक्रियानुरूपा व्यवस्थापिता । तदनुसारं मन्त्राणां याज्ञिक एकोऽर्थः, आधिदैविको द्वितीयः, आध्यात्मिकस्तृतीयः ।

प्राचीना महर्षयो वैदिका विद्वांसश्च वेदस्य पुरस्तान्निर्दिष्टं त्रिविधमर्थं स्वीकुर्वन्ति स्म, इत्यत्र कानिचित् प्रमाणानि प्रस्तूयन्ते—

(१) भगवान् यास्कः—'वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्' (ऋ० १०।७१।५) इत्यृगंशं व्याख्यायमान आह—

'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा इति ।' निरुक्ते १।१९॥

एतेन दैव्या वाचो वेदस्य याज्ञिकाधिदैविकाध्यात्मिकास्त्रिविधा अर्था भवन्तीति विस्पष्टमुच्यते ।

(२) न च भगवान् यास्कः केवलं प्रतिज्ञामेव कृतवान्, अपितु निरुक्ते व्याख्यायमानानां सर्वेषामपि मन्त्राणामाधिदैविकव्याख्यानं कुर्वन् सर्वमन्त्राणामाधिदैविकार्थ एव प्रधानभूत इति ज्ञापयति । अनेकत्र च स आध्यात्मिकार्थं याज्ञिकार्थं च निदर्शयति । तद्यथा—

(क) 'एकया प्रतिधापिबत् साकं सरांसि काणुका' (ऋ० ८।७७।४) इत्यृचं व्याख्यायमान आह—

'तत्रैतद् याज्ञिका वेदयन्ते त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवने एकदेवतानि । तान्येतस्मिन् काले एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति । तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते । त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्राः, त्रिंशत्पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः । तद् या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति । इति' । निरुक्ते ५।११॥

(ख) 'गौरमीमेदनु' (ऋ० १।१६४।२८) इति, उपह्वये सुदुघां

सुदुघां धेनुमेताम्' (ऋ० १।१६४।२६) इति च ऋचोर्व्याख्याने निरुक्तकार आह—

'वागेषा (गौः=धेनुः) माध्यमिका, धर्मधुगिति याज्ञिकाः।'

निरुक्ते ११।४२॥

(ग) 'यत्रा सुपर्णाः' (ऋ० १।१६४।२१) इति मन्त्रव्याख्याने यास्क आह—

'यत्रा सुपर्णा सुपतना आदित्यरश्मयः······इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—यत्र सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि····इत्यात्मगतिमाचष्टे इति।' निरु० ३।१२॥

(घ) 'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' (यजु० ३४।५५) इति मन्त्रव्याख्यान आह—

'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' रश्मयः आदित्ये···· इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि इत्यात्मगतिमाचष्टे इति।' निरुक्ते १२।३७॥

एवमेवान्यत्राऽपि आधिदैवतेन सह याज्ञिकमाध्यात्मिकं च व्याख्यानं भगवता यास्केन प्रदर्शितम्। निरुक्तस्य त्रयोदशचतुर्दशाध्याययोस्तु प्रायेण सर्वमन्त्राणामेवाधिदैविकमाध्यात्मिकं च व्याख्यानद्वयमुपलभ्यते। तेन यास्कमते मन्त्राणां त्रिविधोऽर्थः प्रामाणिक इति सर्वथा विस्पष्टं भवति।

(३) पूर्वनिर्दिष्टमेव यास्कीयं मतं निरुक्तटीकाकारः स्कन्दस्वामी (महेश्वरः) प्रपञ्चेन महता प्रतिपाद्योपसंहरति—

"सर्वदर्शनेषु(पूर्वनिर्दिष्टेषु याज्ञिकाधिदैवताध्यात्मिकेषु) च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिजानात्। इति।' निरुक्तटीकायाम् ७।५॥

(४) निरुक्तव्याख्याता दुर्गाचार्योऽपि मन्त्राणां त्रिप्रकारकोऽर्थ इति विस्पष्टयति। तद्यथा—

क. 'आध्यात्मिकाधिदैवताधियज्ञाभिधायिनां मन्त्राणामर्थाः परिज्ञायन्ते इति।' निरुक्तटीकायाम् १।१८॥

ख. 'तत्र तत्र एक एव ह्यसौ आदित्यमण्डले चाधिदैवते चाध्यात्मे च बुद्ध्यधिदेवताभूतः,स एव तत्र तत्रोपेक्षितव्यः।···अध्यात्मेऽपि हृदयाकाशाद् यानीन्द्रियाणि प्रसर्पन्ति त एव रश्मयः, अधिदैवते च त एव विश्वेदेवा

इत्युक्तम् । एवं तत्र तत्र योज्यम् । प्रकारमात्रमेवेदमुपप्रदर्शितं भाष्यकारेणेति ।' निरुक्तटीकायाम् ३।१२॥

ग. 'तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् आधिदैविकाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः, नात्रापराधोऽस्ति इति ।' निरुक्तटीकायाम् २।८॥

एवमन्यत्राऽपि तत्र तत्र मन्त्राणां त्रिविधार्थप्रक्रियामाचष्टे दुर्गाचार्यः ।

(५) वेदविदामलङ्कारभूतः प्रमाणितशब्दशास्त्रः[1] आचार्यो भर्तृहरिरपि मन्त्राणां त्रिविधप्रक्रियागाम्यर्थं इति स्वीकरोति । तथा ह्याह—

"यथा 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (ऋ० १।२२।१७) इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन् अधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं चात्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्तत इति ।" महाभाष्यदीपिकायां ह० ले०, पृष्ठ २६८ ।

एवमन्येषामपि प्राचामाचार्याणां वचनान्युद्धर्तुं शक्यन्ते, परन्तु विस्तरभिया विरम्यते । केषांचिन्मन्त्राणां बहुविधोऽप्यर्थः पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितः । यथा—

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' (ऋ० १।१६४।४५) इत्यृचो यास्केन षड्विधोऽर्थः प्रदर्शितः । तथाहि—

'कतमानि तानि चत्वारि पदानि ? ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्, नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः, मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः, ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः, सर्पाणां वाग् वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके, पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः ॥' निरुक्ते १३।९॥

एतदेव च सर्वमभिसमीक्ष्य निरुक्तव्याख्याकारो दुर्गाचार्य आह—

(क) 'अनुपक्षीयमाणशक्तयो हि वेदशब्दा यथाप्रज्ञं पुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रब्रुवन्तीति ।' निरुक्तटीकायाम् २।८॥

(ख) 'नह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति । महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च । यथाश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधु साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तुर्वैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति इति ॥' निरुक्तटीकायाम् २।८॥

---

१. द्रष्टव्यः—वर्धमानकृतगणरत्नमहोदधिः, पृष्ठ १२३ ।

एभिः पूर्वतनैश्च प्रमाणैः सर्वथा विस्पष्टं भवति—यद्वेदा न केवलं द्रव्यमययज्ञार्थमेव प्रवृत्ता इति । ते हि सर्वविद्यानां सर्वविधविज्ञानानां चाकरभूताः सन्ति । तत्राधिदैविकोऽर्थः साक्षाद्विज्ञानपर एव, स च बहुविधः । तन्निदर्शनमुपरिष्टात् संक्षेपतः करिष्यते । आध्यात्मिकोऽप्यर्थः आत्म-शरीर-परमात्म-सम्बन्धेन त्रिधा विभक्तः ।

परिशिष्टो याज्ञिकार्थोऽप्यत्यन्तं महत्त्वभूतो वर्तते । परन्तु यथा साम्प्रतिका याज्ञिका यज्ञव्याख्यानं कुर्वन्ति, न तथा तेषां तर्कप्रधानेऽस्मिन् युगे महत्त्वं प्रतिपादयितुं शक्यते । वस्तुतोऽत्र कारणम् आधुनिकानां याज्ञिकानां यज्ञप्रक्रियामूलस्यापरिज्ञानमेवास्ति । तस्मादत्र लेशतो नित्यत्वेन विहितानां श्रौतयज्ञानां वास्तविकं प्रयोजनमुपवर्ण्यते —

वैदिकवाङ्मयस्यानेकधा परिशीलनेन मयैतत्समधिगतं यन्नित्यत्वेन विहिता आधानादारभ्य आसहस्रसंवत्सरं साध्याः श्रौतयज्ञा अस्मिन् ब्रह्माण्डे सर्गारम्भादाप्रलयं यावन्तोऽतीन्द्रिया यज्ञा अभूवन् प्रवर्तन्ते च, तेषां स्वरूपं परिज्ञापनायैव प्रवृत्ताः । अस्मिन्, विराट्पुरुषे (ब्रह्माण्डे) देवैः (प्राकृतिकतत्त्वैः) ये यज्ञा वितन्यन्ते, तानेवाधिकृत्य पुरुषसूक्तस्येयमृक् प्रवृत्ता—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥'

ऋ० १०।९०।१६॥

यास्केन आधिदैविकयज्ञप्रतिपादिकेयं ऋगेवं व्याख्याता —

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाऽग्निमयजन्त देवाः । अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम् । तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः संसेव्यन्त । यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः । द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ता इति ॥' निरुक्ते १२।४१॥

यजुष्यप्युक्तम् 'अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त··वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त ··सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त ।' यजुः २३।१९॥

यथा सम्प्रति भूगोलखगोलयोः परिज्ञानाय तयोर्विविधप्रकाराणि चित्राणि निर्मीयन्ते, यथा वाऽतीन्द्रियां पूर्वतनीं कथां घटनां वा निदर्शयितुं रङ्गमञ्चे नाटकान्याह्रियन्ते, तथैव ब्रह्माण्डविज्ञानं संपादयितुं विविधानां श्रौतयज्ञानां विधानं प्रवृत्तम् । अतः श्रौतयज्ञविधानं सम्यक् परिज्ञाय तत्तत्प्रकृतिभूतं ब्रह्माण्डविज्ञानं सम्यक् सम्पादयितुं शक्यते । एतच्च 'याज्ञदैवते पुष्पफले' इति यास्कीयवचने (निरुक्त १।२०) अधियज्ञस्य पुष्पत्वेन अधिदैवतस्य च तत्फलत्वेन वर्णनाद् अतिविस्पष्टम् ।

अस्यैव परमोपयोगिनः श्रौतयज्ञतत्त्वस्य स्पष्टतायै याज्ञिकीमाधानप्रक्रियामुपस्थाप्य वैदिकग्रन्थोद्धरणैरेव तद्व्याख्या विधास्यते —

अग्न्याधानाय प्रथमतो वेदिर्निर्मीयते। वेदिनिर्माणे चेयं प्रक्रिया[1]—यज्ञोपयोगिस्थानं निश्चित्य तत्पृष्ठं किंचित् खनित्वा तत्र प्रथमं जलप्रसेकः क्रियते। तदनन्तरं क्रमशो वराहविहता मृत् वल्मीकवपा ऊषः सिकताः शर्करा विकीर्य इष्टकाः संचीय हिरण्यं निधाय समिधः संस्थाप्य अरणीं मथित्वाऽग्निमुत्पाद्य तत्र अग्नेराधानं क्रियते।

इयमग्न्याधानप्रक्रिया महदण्डतो यदेयं भूमिः पृथक् स्वसत्तामलभत[2] तस्मात्कालादारभ्य यावत्पृथिव्याः पृष्ठेऽग्नेः प्रादुर्भावः समजनि तावति काले सा भूमिरुत्तरोत्तरं विपरिणममाना कां कामवस्थामतिक्रम्य प्रथमतो स्वपृष्ठेऽग्निसद्भावे समर्थाऽभूदिति संक्षेपतः प्रदर्श्यते।

सलिलमय्यां भूमौ क्रमशो नव सृष्टयोऽभवन्। तथा हि ब्राह्मणं भवति—

'स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत··· ··स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूषं सिकतं शर्करामश्मानमयोहिरण्यं ओषधिवनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्।' श० ६।१।१।१३॥

या अत्राप्सु नव सृष्टयः परिगणिताः, तासु फेनानामप्रधानत्वादेव फेनरूपा सृष्टिराधानप्रक्रियायां नोपदर्शिता। अतस्तां परिहाप्य अन्यासां क्रमश आधानप्रक्रियानुसारं वर्णनं प्रस्तूयते—

१—यदेयं भूमिर्हिरण्यगर्भात्[3] पृथग्भूत्वा स्वसत्तामालभत, तदा सा सलिलरूपासीत्। अत एव—'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास' (श० ११।१।६।१) इत्येषा श्रुतिः प्रवृत्ता। भूमेस्तामवस्थां द्योतयितुं वेदिस्थाने प्रथमं जलसेकः क्रियते।

---

१. इयं प्रक्रिया अग्न्याधानाग्निचयनयोः समासेन निर्दिष्टा।

२. पाश्चात्या वैज्ञानिका 'भूमेरुत्पत्तिः सूर्यादभवत्, अत आदावियं सूर्यवदुष्णासीत्, शनैः-शनैः शीतीभावं गता' इति ब्रुवन्ति। तद्वैदिकविज्ञानविरोधाच्चिन्त्यम्।

३. हिरण्यगर्भत्वं महदण्डस्य चरमावस्था। तदुक्तं मनुस्मृतौ 'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् इति।' तदवस्थस्यैव महतोऽण्डस्य द्विधा भावाद् द्युपृथिव्यादयो लोकाः स्वसत्तां प्रापुः। तथाह ऋक्—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' इति। ऋ० १०।१२१।१॥

२—अग्निसंयोगात् सलिलेषु फेनोऽजायत। स एव मारुतसंयोगात् घनत्वं[1] प्राप्य मृद्भावं गतः। तदानीं पृथिवी स्वल्पासीत्। अत एवोक्तम्—

"स (फेनः) यदोपहन्यते मृदेव भवति।' श० ६।१।३।३॥ इति।

'यावद्वै वराहस्य चषालं तावतीयमग्र आसीत्। यद्वराहविहतमुपास्याग्निमाधत्ते।' मै० सं० १।६।३॥

इति च श्रुतिविहितामवस्थां द्योतयितुं जलप्रसेकानन्तरं वराहविहता मृत् प्रकीर्यते।

३—तदनन्तरं सूर्यतेजसा पृष्ठोपरिभागस्था यदा मृद आपो शुष्कतां गताः, तदा शुष्कापोरूपा सृष्टिरजायत। अस्यामवस्थायां मृच्छुष्का बभूव, अधस्ताच्च तस्या जलमासीत्। तत उपरिष्ठो भागो वायुरूपिण इन्द्रस्य योगात्[2] पुष्करवर्णवत् लेलायमान एवासीत्[3]। तामवस्थां द्योतयितुम् 'हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा' इत्यृक् (ऋ० १०।११९।९) प्रवृत्ता। तामवस्थां द्योतयितुम्—

'यद्वल्मीकवपामुत्कीर्याग्निमाधत्ते।' (मै० सं० १।६।३) इति श्रुतिः प्रवृत्ता।

वल्मीकवपाया अधस्ताज्जलं भवति। एष च निश्चितः सिद्धान्तः। अत एव धन्वदेशे जलगवेषका वल्मीकवपाधःस्थान एव कूपखननं प्रायेणोपदिशन्ति।

४—ततः सूर्यतेजसा सैव शुष्कापोमृद् ऊषत्वम् (क्षारत्वम्) अभजत। सा ऊषरूपा सृष्टिरभवत्। अतएव—

'यदूषानुपकीर्याग्निमाधत्ते।' (मै० सं० १।६।३) इति श्रुतिः प्रवृत्ता।

५—तत्पश्चात् सैव मृत् सूर्यतेजसा तप्यमाना सिकतात्वमलभत[4]। अतएव—

---

१. सोऽग्निमारुतसंयोगात् घनत्वमुपपद्यते। महा०शान्ति० १८२।१५॥ यथा तप्ते दुग्धे यद्याच्छादनं क्रियते, तर्हि वायुसंयोगाभावात्तदुपरि संतानिका न जायते।

२. वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः (निरुक्त ७।५) इति वचनान्नैरुक्तप्रक्रियायामन्तरिक्षस्थानीयवायुदेवतापक्षे मन्त्रपठितानामिन्द्रपदानां वाय्वर्थत्वं व्याचक्षते निरुक्तविदः। तथा चाह वररुचिः—'नैरुक्तपक्षे—इन्द्र दानादिगुण! इन्द्रो मध्यस्थानो वायुरुच्यते—हे इन्द्र वायो!' निरुक्तसमुच्चय सं० २, पृ० ८४॥

३. सा हेयं पृथिव्यलेलायद् यथा पुष्करपर्णम्। शत० २।१।१।८॥

४. द्र०—एष वा अग्निर्वैश्वानरो यदसावादित्यः। स यदिहासीत् तस्यैतद् भस्म यत् सिकताः। मै० सं० १।६।३॥

'यत्सिकतामुपकीर्याग्निमाधत्ते ।' (मै० सं० १।६।३) इति श्रुतिः प्रवृत्ता ।

६—तदनन्तरं ता एव सिकताः सूर्यतेजसाऽन्तरूष्मणा च शर्करात्वमविन्दत । सा शर्कराख्या सृष्टिरजायत । अतएव—

'यच्छर्करा उपकीर्याग्निमाधत्ते ।' (मै० सं० १।६।३)इति श्रुतिः प्रवृत्ता ।

शर्करोत्पत्त्या पृथिव्यां यद्वैशिष्ट्यमजायत, तदपि वैदिकग्रन्थेष्वित्थं प्रदर्श्यते—

'शिथिरा वा इयं (पृथिवी) अग्र आसीत्, तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत ।' (मै० सं० १।६।३) इति ।

एतदेव पृथिवीदृंहणं 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' (ऋ० १०।१२१।५) इति मन्त्र उपदिश्यते ।

७—ततः पश्चाद् ता एव शर्करा अन्तरूष्मणा तप्यमाना अश्मत्वं गताः ।[१] सा अश्मसृष्टिर्बभूव । अतएव चयने—

'इष्टका उपदधाति ।' (तै० सं० ५।२।८) इत्येषा श्रुतिः प्रवृत्ता ।

नियताकारायां वेद्यां सुगमतायै नियताकारा इष्टका उपधीयन्ते । अश्मनां नियताकारे विपरिणामो विशेषेण आयाससाध्य इति कृत्वा तत्स्थाने तत्प्रतिनिधिरूपा इष्टकाः प्रतिनिधीयन्ते ।

८—ततस्त एवाश्मानोऽन्तरूष्मणा पच्यमाना, लोहादारभ्याऽऽसुवर्णं धातुरूपेण विपरिणामं प्राप्ताः ।[२] तद्रूपाऽऽयोहिरण्यरूपा सृष्टिरभवत् । अतएव—

'हिरण्यं निधाय चेतव्यम् ।'[३] इति चयनविषयिका श्रुतिः प्रवृत्ता ।

९—एवं पृथिव्याः पूर्णत्वेऽपि सा कूर्मपृष्ठवदलोमिकेवासीत् । तत ओषधिवनस्पतयोऽजायन्त । एतदेव द्योतयितुम्—

'इयं वा अलोमिकेवाग्र आसीत् ।' (ऐ० ब्रा० २४।२२) इति 'ओषधिवनस्पतयो वै लोमानि ।' (जै० ब्रा० २।५४) इति च श्रुतिः प्रवृत्ता । तामेवावस्थां द्योतयितुं लोमस्थानीया समिधस्तत्र स्थाप्यन्ते ।

---

१. शर्कराया अश्मानम्, तस्मात् शर्करा अश्मैव भवति । शत० ६।१।३।३।।

२. अश्मनो लोहमुत्थितम् । महा० उद्योग० ।। रसजं क्षेत्रजं चैव लोहसंकरजं तथा । त्रिविधं जायते हेमश्चतुर्थं नोपलभ्यते ।। रसार्णवतन्त्र ७।६६।।

३. मीमांसाशाबरभाष्य (१२।१८) उद्धृता । अयमेवार्थः 'रुक्ममुपदधाति' (मै० सं० ३।२।६) इत्यस्याः श्रुतेः ।

एवं नवम्यां ओषधिवनस्पतिरूपायां सृष्टौ प्रादुर्भूतायां वनस्पतीनां शाखानां वायुवेगेन संघर्षे सत्यग्नेः प्रथमतः प्रादुर्भावो पृथिव्याः पृष्ठे बभूव। अत एवेदं यजुराह—
तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायाऽऽदधे। यजु० ३।५॥

यतः प्रथमतोऽग्नेः प्रादुर्भावो वृक्षशाखानां संघर्षणेनैवाऽभूत्, अत एवाधानेऽपि काष्ठमय्यमरणिमन्थनेनैवाग्निमुत्पादयन्ति, नाऽन्येन प्रकारेण[1]।

एतेनाऽग्न्याधानप्रक्रियाविवरणेन विस्पष्टं भवति, यदिमे श्रौतयागाः प्राकृतयागानामेव प्रातिनिध्यं कुर्वन्ति।

इत्थमेव सायंप्रातः क्रियमाणोऽग्निहोत्रहोमो रात्रिदिवसयोः, दर्शपौर्णमासौ कृष्णपक्षशुक्लपक्षयोः, चातुर्मास्ययागस्तिसृणामृतूनां, गवामयनं दक्षिणायनोत्तरायणयोः, ज्योतिष्टोमः संवत्सरस्य, सहस्रसंवत्सरसाध्यो यज्ञः सहस्रचतुर्युगपरिमितस्य सृष्टिकालस्य प्रतिनिधित्वं करोति। एवमेभिः श्रौतयज्ञैः प्रकृतौ सर्गादारभ्याऽऽप्रलयं प्रवृत्ता अतीन्द्रियाः प्राकृता यज्ञाः क्रिया घटना वा चित्रमिव मूर्तरूपेण पुरस्तादुपस्थाप्यन्ते बोध्यन्ते वा। एतेन श्रौतयज्ञानामत्याश्चर्यकरं परमोपयोगि प्रयोजनं व्याख्यातं भवति।

एतेनैव पशुयागविषयिकी पशुहिंसाऽपि यथावद् व्याख्याता भवति। तथापि—काव्यं द्विविधं भवति श्रव्यं दृश्यं च। तत्र श्रव्यरूपे काव्ये युद्धादिषु मानवादिमारणं यथावच्चित्र्यते। परन्तु यदा तदेव दृश्ये काव्ये प्रस्तूयते तदा मारणादिकं रङ्गे पटप्रक्षेपादिनैव सूच्यते, न तत्र प्रत्यक्षं शत्रोर्मारणं प्रस्तूयते। एवमेव सृष्टियज्ञे न केवलं पदार्थानामुत्पत्तिरेव भवति, किन्तु उत्पत्त्या सह केषांचित् तत्त्वानां विनाशोऽपि जायते। तत्र सर्गात्मका यज्ञा देवयज्ञाः, विनाशात्मका यज्ञा असुरयज्ञाः। तत्र श्रौतसूत्रादिषूपदिश्यमाना पशुयागा आसुरा एव। परमकवेः सृष्टिकाव्ये सर्गात्मका विनाशात्मका उभयरूपा अपि यज्ञा नित्यं प्रवर्तन्ते। तेषां तस्यैव परमकारुणिकस्य कवेः श्रुतिरूपे श्रव्यकाव्ये यथावद् वर्णनमुपलभ्यते। परन्तु यदा तेषां प्रदर्शनं दृश्यकाव्यरूपेण रङ्गरूपे देवयजने (वेद्यां) प्रस्तूयते तथा सर्गात्मकानां दैवयज्ञानां सर्वाः क्रिया यथावत् प्रस्तूयन्ते, परन्तु तत्रैव यदाऽऽसुरयज्ञानां प्रदर्शनं क्रियते तदा नाटकमिव साक्षात् पशुबधादिरूपा क्रिया न प्रस्तूयन्ते। तत्र पर्यग्निकरणं पर्यन्तं क्रियाः प्रदर्श्य पशव उत्सृज्यन्ते स्म[2]। अत एव अग्निवेशकृते चरकप्रतिसंस्कृते तन्त्र उक्तम्—आदिकाले पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रवरकालं…

---

१. अद्यापि यैर्यैरुपायैरग्निरुत्पाद्यते तत्र तत्र द्वयोः परस्परं संघर्ष एवाग्नेरुत्पादने कारणम्।

२. अत एव तत्स्थाने 'यद्दैवत्यः पशुस्तद्दैवत्यः पुरोडाशः' इति प्राचीना याज्ञिकाः पुरोडाशं निर्वपन्ति स्म।

......पशवः प्रोक्षणमापुः ...... गवालम्भः प्रवर्तितः। अतिसारः प्रथम-मुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे। चिकित्सा० १९।४॥

पशुयज्ञा द्विविधाः। एके यत्रारण्याः पशवो हविर्भूताः, अपरे यत्र ग्राम्याः पशवो हविर्भूताः। तत्रोभयविधेषु यज्ञेष्वद्यापि आरण्यानां पशूनामालम्भं न याज्ञिकाः कुर्वन्ति। तेषां पर्यग्निकरणानन्तरमुत्सर्गं विदधति। तदुक्तम्-कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्नि-कृतान्। कात्या० श्रौत २०।६।६॥

यदा श्रौतयज्ञानां सृष्टिविज्ञानमेव पृष्ठभूमिस्तदा याज्ञिकप्रक्रिया क्रियमाणोऽप्यर्थो-ऽन्ततः सृष्टिविज्ञानप्रतिपादक[1] एव। तस्माद् वेदानां विज्ञानमेव मुख्योऽर्थः। 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' इति वचनानुसारं सृष्टिविज्ञानस्याऽपि अध्यात्मे परिणामो भवति। अत एव श्रुतिः प्रवृत्ता—

'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' (ऋ० १।१६४।३०) इति।
'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० २।१५) इति।
'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता १५।१५) इति च।

इदानीमवशिष्यते वेदार्थस्यैका प्रक्रिया, यस्या व्यावहारिकीति नाम। तस्या अपि वेदार्थे प्रामाण्यं स्वीक्रियते वेदज्ञैः। भगवता मनुना 'सेनापत्यं च राज्यं च' इत्या-दिभिः पूर्वोपस्थापितैः श्लोकैः राजनीतिप्रवर्तनं वर्णाश्रमधर्माणां भूतभव्य-भविष्योपयोगिनां विधानानां प्रकल्पनं च वेदेभ्य एव संभवतीत्युक्तम्। न साक्षात् तादृशार्थपराः केचन मन्त्रा वेदेषूपलभ्यन्ते। एतादृशां कर्मणां विधानं व्यावहारिकार्थ-मनुसृत्यैव विदधति धर्मसूत्रकाराः। स च व्यावहारिकार्थः क्वचित्साक्षात् प्रयुक्तया उपमया क्वचिल्लुप्तोपमया क्वचिदन्यैरलङ्कारैर्द्योत्यते। तद्यथा[2]—

'जायेव पत्य उशती सुवासाः' (ऋ० १०।७१।४) इति।

'विधवेव देवरम्' (ऋ० १०।४०।२) इति च।

अत्र प्रथमया 'जायया ऋतुकालेषु सुवासांसि धार्याणि' इति द्योत्यते। अपरया 'पत्यौ मृते विधवाया देवरेण नियोगो वा विवाहो वा संभवति' इति चार्थः प्रदर्श्यते।

---

१. दैवते हि याज्ञमन्तर्भूतमेव तदर्थत्वात्, अतो न पृथगुच्यते। दुर्गाचार्यः निरुक्त-टीकायाम् ॥१।२०॥

२. भार्या भर्त्रा शोभनवस्त्रादिभिः परितोष्या इति च। अन्यथा सुवासांसि सा कुतः सम्पादयेत्?

ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्थयोरुषःसूक्तयोर्वाचकलुप्तोपमलंकारेण उषर्वत् स्त्रियः कैः कैः शुभगुणैर्युक्ताः स्युरिति वर्ण्यते। एतस्मिन् विषये स्वामिदयानन्दकृतर्भाष्य-मनुसृत्य किञ्चिदुदाह्रियते –

उषर्वद्धितसंपादिके (ऋग्भाष्ये १।४८।१२)
प्रभातवद् बहुगुणयुक्ते (ऋग्भाष्ये १।४८।११)
उषर्वत् कल्याणनिमित्ते (ऋग्भाष्ये १।४९।१)
उषर्वत्पुरुषार्थनिमित्त ऋग्भाष्ये १।४९।३)

एतादृशा एवाभिप्रायाः मीमांसकैः पारिभाषिकेन 'दर्शन' शब्देन निर्दिश्यन्ते। तथाह्युक्तं शाबरभाष्ये (१।३।२)—

(क) गुरुरनुगन्तव्यः इत्यस्मिन्विषये—"तथा च दर्शयति—तस्माच्छ्रेयांसं पूर्वं यन्तं पापीयान् पश्चादन्वेति।' (मै० सं० ३।१।३) इति।"

(ख) प्रपा प्रवर्तितव्या तडागं[1] च खनितव्यम्, इत्यस्मिन्विषये—"तथा च दर्शनम्—'धन्वन्निव प्रपा असि'।(तै० सं० २।५।१२) इति। तथा 'स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति।' (तै० सं० १।६।११) इति।"

(ग) शिखाकर्म कर्तव्यम्, इत्यस्मिन्विषये—"दर्शनं च-'यत्र बाणा संपतन्ति कुमारा विशिखा इव।' (ऋ० ६।७५।१७) इति च।"

अत्रोदाहृतानां सर्ववचनानां वास्तविकोऽर्थस्तु तत्तत्प्रकरणानुसारं भिन्न एव,परन्तु तैरेव लौकिककर्मणामपि विधानं शबरस्वामिना प्रदर्शितम्। एवमन्यत्राऽपि वेदानां काव्य-रूपत्वाद् विविधैरलंकारैर्मन्त्राणां व्यावहारिकोप्यर्थः कर्तुं शक्यते।

वेदानां याज्ञिकाधिदैविकाध्यात्मिकास्त्वर्थाः परं सूक्ष्माः, न तत्र सर्वेषां बुद्धेः प्रवेशस्य संभवः। परन्तु वेदानां व्यावहारिकेणार्थेन साधारणजना अपि वैदिक-शिक्षानुकूलं स्वजीवनं श्रेष्ठं सुखिनं च सम्पादयितुं समर्था इति विज्ञाय स्वामिदयानन्देन प्राचीनैर्मन्वादिमहर्षिभिरादृतं पन्थानमनुसृत्य मन्त्राणां व्यावहारिकोऽर्थः प्राधान्येन प्रदर्शितः। तदुक्तं स्वीयर्ग्वेदादिभाष्यभूमिकायां प्रतिज्ञाविषये—

'अथाऽत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोरर्थयोः श्लेषालंकारादिना सप्रमाणः संभवोऽस्ति, तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते।... ...यत्र खलु व्यावहारिकार्थो भवति......।' ऋग्भाष्य भाग १, पृष्ठ ३९० (रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस मुद्रित संस्क०)।

---

१. तडागोऽस्त्रीत्यमरः।

याज्ञिकाधिदैविकाध्यात्मिका अर्थास्तत्र तत्र प्राचीनैर्महर्षिवर्यैः स्वस्वग्रन्थेषु प्रदर्शिताः। तेषामेव पुनर्वचने पिष्टपेषणभिया त्रिविधप्रक्रियापरा मन्त्रार्था न स्वामिदयानन्देन साक्षाद् व्याख्याताः। एतदपि तत्रैवोक्तम्—

'परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत्कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानृषिग्रन्थवत् पुनरुक्तिपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति।' ऋग्भाष्य भाग १, पृष्ठ ३८८, रालाकट्रप्रेस संस्क०॥

एवं वेदार्थविषये किञ्चिदुक्त्वा वेदेषु प्रतिपादितस्य अतीन्द्रियस्यातिसूक्ष्मस्य सृष्टिविज्ञानस्य प्रतिपादकाः केचन मन्त्रा उद्ध्रियन्ते—

हिरण्यगर्भरूपस्य विराट्पुरुषस्योत्पत्तिः—परमपुरुषस्य सान्निध्यादीक्षणाद्वा प्रकृतिरुत्तरोत्तरं विपरिणममाणा भूतोत्पत्त्यनन्तरम् अण्डभावं[1] प्राप्ता। मन्त्रेषु अयमण्ड एव गर्भशब्देन व्यपदिश्यते। अस्याण्डस्योत्पत्तिविषयका बहवो मन्त्रा वेदेषु समुपलभ्यन्ते। परन्त्विह द्वावेव मन्त्रावुदाह्रियेते—

'तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः॥'

ऋ० १०।८२।६॥

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥'

ऋ० १०।१२१।१॥

अनयोर्मन्त्रयोः स्मृतैः क-अज-हिरण्यगर्भशब्दैः सर्गादौ समुत्पद्यमानं महदण्डमेवाभिधीयते। स एव आदिदेव-प्रजापति-सहस्रशीर्ष-पुरुषादिपदैः स्मर्यते। द्रष्टव्योऽत्र वायुपुराणस्य सृष्टिप्रकरणस्य प्रकृतिक्षोभणनाम्नः पंचमाध्यायस्य चत्वारिंशत्तमः श्लोकः—

---

१. द्र०—प्रशस्तपादभाष्ये सर्गप्रलयप्रकरणम्। समस्तस्य ब्रह्माण्डस्योत्पत्त्या एतादृशाः संख्यातीता अण्डा समुत्पद्यन्ते। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।
ईदृशानां तथा तत्र कोटि-कोटि शतानि च॥२।६।२७॥

वायुपुराणेऽपि—'अण्डानामीदृशानां तु कोट्यो ज्ञेयाः सहस्रशः'। १५१।४६॥

'आदित्वाच्चादिदेवोऽसावजातत्वादजः स्मृतः ।
पाति यस्मात्प्रजाः सर्वाः प्रजापतिरतः स्मृतः ।।'

अस्याण्डस्योत्पत्तिरप्सु अग्निप्रवेशेन भवति । तथा च मन्त्रवर्णो भवति—

'अग्नि या गर्भं दधिरे विश्वरूपास्ता न आपः शंस्योना भवन्तु ।।'
तै० सं० ५।६।१।।

एतद्विषये वायुपुराणस्याधोलिखितः श्लोकोऽपि द्रष्टुमर्हः—

'पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च ।
महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति वै ।।' ४।७४।।

यदैतस्मिन्नण्डेऽण्डेष्वण्डजप्राण्यङ्गानीव पृथिव्यादयो लोकाः पूर्णतामापद्यन्ते, तदा सोऽन्तरूष्मणा पच्यमानः स्वर्णनिभः संजायते । तदुक्तं मनुना—

'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।' १।६।।

तादृशावस्थापन्नः सोऽण्डरूपो गर्भो हिरण्याण्डशब्देन हिरण्यगर्भशब्देन वा व्यवह्रियते । तस्यैव वर्णनं पुरस्तान्निर्दिष्टे 'हिरण्यगर्भः' इत्यादिमन्त्र उपलभ्यते ।

द्यावापृथिव्यादीनां तस्मिन्नेवाण्डे निर्माणात् स हिरण्यगर्भ एव द्यावापृथिव्यौ दधार, इत्युक्तं तत्र । पूर्णतामापन्नोऽयमण्डः कालान्तरे यदाऽभिद्यत,तस्मिन् काले द्यावापृथिव्यौ अत्यन्तं समीपवर्तिनावास्ताम् । तथा च मन्त्रवर्णो भवति—

'जामी सयोनी मिथुना समोकसा ।' ऋ० १।१५९।४।।

अस्मिन् मन्त्रे द्यावापृथिव्योः 'जामी' विशेषणेन सहोत्पत्तिरुभयोर्द्योत्यते ।'सयोनी' पदेन महदण्डरूपैकयोनित्वं, 'मिथुना'पदेन परस्परं सहभावः, 'समोकसा'पदेन समानं निवासस्थानं च सूच्यते ।

अस्यैव समोकसा पदस्य ब्राह्मणग्रन्थेष्वित्थं व्याख्यानमुपलभ्यते—

'द्यावापृथिवी सहास्ताम् ।' तै० सं० ५।२।३; तै० ब्रा० १।१।३।२।।

'सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः ।' शत० ७।१।२।२३।।

एतेनाधुनिकैर्वैज्ञानिकैर्व्यवस्थापितं सूर्यादेवेमे पृथिव्यादयो लोकाः कस्माच्चित् प्राकृतोत्पातात् पृथग्भूता इति मतं प्रत्युक्तं वेदितव्यम् ।

कालान्तरे समोकसौ द्यावापृथिव्यौ वियुतावभवताम् । सा वियुतिर्दूरता सूर्यस्य दिव्यारोहणेन सम्पन्ना । तदेतेन मन्त्रवर्णेन सूच्यते—

'अग्न आयाहि वीतये ।' साम० पू० १।१।१। इति ।

व्याख्याता चेत्थमियमृक् शतपथे—

'अग्न आयाहि वीतये इति । तद्धेति भवति वीतय इति समन्तकमिव ह वा इमे अग्रे लोका आसुरिति उन्मृश्या हैव द्यौरास इति।' श० १।४।१।७।।

अस्मिन् मन्त्रे द्यावापृथिव्योर्वीतिभावोऽग्निकारणेनाभवदिति प्रतिपाद्यते । सहभूतयोर्द्यावापृथिव्योर्वीतिभावे 'इमौ लोकौ सह सन्तौ व्यैताम्' इति ब्राह्मणवादोऽपि भवति ।

सूर्यस्य दिव्यारोहणमनेकेषु मन्त्रेषु श्रूयते । तद्यथा—

'इन्द्रो दीर्घाय चक्षसे आ सूर्यं रोहयद्दिवि ।' ऋ० १।७।२।।

द्यावापृथिव्योर्वीतिभावेऽन्तरिक्षं वरीयोऽभवत् । तथा च मन्त्रवर्णो भवति—

'यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र ।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ।।'

ऋ० ३।२२।२।।

द्यावापृथिव्योर्वियुत्यान्तरिक्षस्य प्रादुर्भावो ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि श्रूयते । तद्यथा—'सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः । तयोर्वियतयोरन्तरेणाकाश आसीत्, तदन्तरिक्षमभवत् ।' श० ७।१।२।२३।।

अग्निकर्मणा द्यावापृथिव्यौ वियुतौ, तयोर्वियुत्यैवान्तरिक्षं वरीयोऽजायत । अतएव मन्त्रे 'येना (अग्निना)न्तरिक्षमुर्वाततन्थ' इत्युक्तम् ।

द्यावापृथिव्योर्वियुतिभावे, सूर्यस्य दिव्यारोहणे, अन्तरिक्षस्य वरीयत्वे चान्येऽपि देवाः सहायका अभूवन् । अतो वेदेषु अन्येषामपि देवानां इदं कर्मत्रयं श्रूयते ।

मरुतां मरीचयः—पृथिवीमारभ्याऽऽदिवं मरुतां विषयः । ते चैकोनपञ्चाशत्संख्यकाः । ते च सप्त परिवहेषु सप्तसप्तत्वेन विभक्ताः । अत एवोक्तं शतपथे—'सप्तसप्त हि मारुता गणाः' (९।३।१।२५)इति । तेष्वेको गणो [1]मरीचिनामा । तेषां मरीचिनाम्नां मरुतां मरीचयो=रश्मयोऽपि भवन्ति । अतएव वेदेष्वनेकत्र मरुतां रुक्मवक्षसः इति विशेषणमुपलभ्यते । तेषां रश्मयः सूर्यरश्मिभिरुपमीयन्ते —'विरोकिणः सूर्यस्यैव रश्मयः' (ऋ० ५।५५।३) इति । विरोकिणो विरोचिनः सूर्यस्येति भावः । उत्तरमन्त्रे सूर्यस्येव मरुतामपि चक्षणं दर्शनं दिदृक्षेण्यत्वेन श्रूयते—'आभूषेण्यं वो मरुतो महित्वनं दिदृक्षेण्यं सूर्यस्येव चक्षणम्'(ऋ० ५।५५।४)इति । यजुषि

---

१. सम्भवतः षष्ठपरिवहस्था मरुतो मरीचिनामानः । तत्सान्निध्यात् पञ्चमसप्तमपरिवहस्थानां मरुतामपि 'रुक्मवक्षसः' विशेषणं क्वचिद्वेदेषूपलभ्यते ।

—'वायुरसि तिग्मतेजाः' (१।२४) इति पठ्यते। शतपथे चास्य मन्त्रस्य व्याख्याने —'एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यदयं पवते' (१।२।४।७)इति श्रूयते। एतदेव सर्वमभिसमीक्ष्य गीतायां भगवतो विभूतिप्रतिपादनाध्याये स्मर्यते—'मरीचिर्मरुतामस्मि' (१०।२१) इति।

सहस्ररश्मिः सूर्यः, सूर्ये ये रश्मयः सन्ति, ते वैदिकविज्ञानानुसारं सहस्रप्रकाराः सन्ति। सूर्यरश्मीनां सहस्रविधत्वं ऋग्वेदे ह्येवं श्रूयते - 'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश' (६।४७।१८) इति। तथा च ब्राह्मणवादो भवति—'सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः' (जै० उप० ब्रा० १।४४।५) इति। महाभारतेऽप्युक्तम्—'यस्य रश्मिसहस्रेषु' (शान्ति० ३७२।३) इति। पुराणेषु एषां सहस्ररश्मीनां शीतोष्णवर्षाविधायकत्वेन विस्तरेण तद्विभागवर्णनमुपलभ्यते। (द्र०—वायु० ५३।१९-२३; मत्स्य० २२८।१८-२२)।

एत एव सहस्रविधा रश्मयः वर्णभेदेन सप्तधा विभज्यन्ते। अत एव सूर्यः सप्तरश्मिः सप्ताश्व आदिनामभिरपि व्यवह्रियते।

आदित्यमण्डले कार्ष्ण्यम्—आदित्यमण्डलस्य मध्यभागे चन्द्रमस इव कृष्णाः कलङ्काः सन्ति। अतएव वेदेषु आदित्यः कृष्णपदेन बहुधा स्मर्यते। यथा - 'कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदन्'। (ऋ० १।७९।२) इति। अत्र कृष्णपदेन आदित्यरूपोऽग्निः स्मर्यते। 'आ कृष्ण ईं जुहुराणो जिघर्ति'। (ऋ० ४।१७।१४) इत्यादिषु आदित्यरूप इन्द्रः[1]। अतएव जैमिनिब्राह्मणे श्रूयते—'असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत् संवत् यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सर इत्यधिदैवतम् इति।' जै० ब्रा० २।२८॥

इमे कृष्णाः कलङ्काः सदा परिसर्पन्ति, नैकत्र तिष्ठन्ति। अतएव इमे 'सरः' नाम्ना स्मर्यन्ते।

एत एव चादित्यमण्डलस्थाः कृष्णाः कलङ्काः सर्पणादेव 'सर्पाः' इत्यप्युच्यन्ते। आदित्यमण्डले सर्पाणां सद्भावः—'ये वामी रोचते दिवो······ तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः' (१३।८) इति याजुषमन्त्रे श्रूयते। अत एव ब्राह्मणवादोऽपि भवति—'सर्प्या वा आदित्याः' (तां० ब्रा० २५।१५।४) इति। सर्पा एव सर्प्याः, स्वार्थे तद्धितः। अतएव क्वचित् सर्पा वा आदित्याः इत्येव पाठ उपलभ्यते। अदित्यै भवा आदित्याः दित्यदित्यादित्य० (अ० ४।१।८५) इत्यादिना ण्यः प्रत्ययः। अन्यत्राप्युक्तम्—

---

१. नैरुक्तपक्षे इन्द्रपदेनादित्योऽपि गृह्यते। द्रष्टव्यो - वाररुचो निरुक्तसमुच्चयः।

'फूत्कारविषवातेन नागानां व्योमचारिणाम् ।
वर्षासु सविषं तोयं दिव्यमप्याश्विनं विना ।।[1]'

पाश्चात्यैर्वैज्ञानिकैरादित्यमण्डलस्थाः कृष्णाः कलङ्काः, तेषामेकत्रानवस्थानं चाधुनैव विज्ञातम् । वैदिका विद्वांसस्तु वेदद्वारा सिद्धान्तमिममादिकालादेव विदन्ति । सर्व-विधानामतीन्द्रियविज्ञानानां बोधनादेव वेदानां वेदत्वम् । तदुक्तम्—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एत विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ।।'[2]

यस्तूपायो न बुध्यते, आधिदैविकस्याध्यात्मिकस्य चातीन्द्रियविज्ञानस्येति शेषः ।

एतादृशां विविधविद्याकरभूतानां विशेषतोऽधिदैवतस्य सर्गविज्ञानस्य प्रतिपादकानां वेदानां महत्त्वं वैभवं वा प्रदर्श्य तेषां पुनः प्रसारस्य केचनोपायाः प्रस्तूयन्ते—

वेदानां पुन प्रसारोपायचिन्तनात् पूर्वमेतद्विज्ञातव्यं यत्किमत्र कारणं यस्मात् परम-विद्यानाम् आकरभूतानाम् अपि वेदानां प्रसार उत्तरोत्तरं न्यूनतां भजत इति।'नहि रोग निदानमविज्ञाय चिकित्सा प्रवर्तते' इति न्यायानुसारं वेदप्रसारह्रासकारणविज्ञाते सत्येव तत्प्रसारोपायानां चिन्ता सम्भवति । तस्मात् प्रथमं वेदज्ञानस्य ह्रासकारणान्यु-च्यन्ते । तत्र कानिचित् कारणानि भारतीयपरम्पराप्रसूतानि सन्ति, कानिचिच्च साम्प्र-तिकैर् ईसाई-यहूदी-मताग्रहगृहीतैः पाश्चात्यविद्वद्भिरुत्पादितानि । तत्र तावत् भारतीय-परम्पराप्रसूतानि वेदज्ञानस्य ह्रास-कारणानि—

१—वेदाध्ययनस्य श्रौतकर्मानुष्ठानादिष्वदृष्टोत्पादनमेव फलम् । केवलमदृष्टार्थम्, न तस्य दृष्टफलार्थतेत्येकम् ।

एतन्मतस्य प्रसारात् केषाञ्चिद् याज्ञिकानां मते 'मन्त्रा अनर्थकाः'[3] इत्येतन्मतं प्रचारमलभत । तेन वेदानां मानवजीवनेन सह यः साक्षात् सम्बन्ध आसीत्,स प्रणष्टः । तन्नाशाद्वेदाध्ययनमनर्थकं मन्यमानास्तं प्रायेण परिहापितवन्तः ।

---

१. शब्दचिन्तामणिकोषे (भा० १, पृ० ७९९) गाङ्गशब्द उद्धृतमिदं पद्यम् । एषां सूर्यस्थानां कृष्णसर्पाणां फून्कारेण सूर्यमण्डले ज्वालानां विशेषतः सद्भावे रेडियो-संचारादिषु बाधोत्पद्यते इत्याधुनिका वैज्ञानिका अपि मन्यन्ते ।

२. सायणाचार्यकृतस्य तैत्तिरीयसंहिताभाष्यस्योपोद्घात उद्धृतोऽयं श्लोकः ।

३. 'यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनायानर्थकं भवतीति कौत्सः, अनर्थका हि मन्त्रा इति' । निरुक्ते (१।१५); पूर्वमीमांसायां (१।२।३१, ३९) च एतन्मतमुपस्थाय बहुभिर्हेतु-भिर्निराकृतम् ।

२—वेदाः केवलं यज्ञार्थं प्रवृत्ताः, नातोऽन्यद् किमपि तेषां प्रयोजनमिति द्वितीयम् ।

एतन्मतस्य प्रादुर्भावाद्वेदानामाधिदैविकाध्यात्मिकयोर्विज्ञानयोः साकं यः साक्षात् सम्बन्धो वर्तते, स नाशमुपगतः । तन्नाशाद् वेदा निष्प्रयोजनत्वमापन्नाः । तेन 'प्रयोजनमननुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' इति न्यायाद् वेदाध्ययनाद् ग्लायन्तो वेदाध्ययनमत्यजन् ।

३—यज्ञा अपि केवलमदृष्टार्था एव, न तेषामन्यत् किमपि लौकिकं प्रत्यक्षं फलमिति तृतीयम् ।

एतन्मतस्य प्रसाराद्यज्ञानां 'सृष्टिविज्ञानपरिज्ञापनरूपस्य' मुख्यस्य प्रयोजनस्य परित्यागात् साम्प्रतिकास्तर्कप्रधानाः श्रद्धाविरहिता मानवास्ततो ग्लायन्तो यज्ञान् अत्याक्षुः । यज्ञकर्मणां लोपाद् ब्राह्मणवृत्तेर्नाशः तन्नाशात्तेषां वेदाध्ययनप्रवृत्तिरपि संकोचं प्राप्ता ।

४—स्त्रीणां शूद्राणां च वेदश्रवणेऽपि नाधिकारः[1], कुतस्तदध्ययने धारणे चेति चतुर्थम् ।

स्त्रीणां वेदाध्ययनप्रतिषेधात् पत्न्यो वेदज्ञानविरहिता अभूवन् । तासां च वैदिकज्ञानसंस्कारराहित्यात् ता अज्ञानावृतचेतसोऽजायन्त । तेन तासामपत्यान्यपि वैदिकसंस्कारविरहितानि समभूवन् । तेन कुलान्यकुलतां गतानि । शूद्राणां वेदश्रवणाधिकारस्याप्यपहरणाद्वैदिकसंस्कारराहित्याच्च ते आर्याः सन्तोऽप्यनार्याः संवृत्ताः । एवं मनुष्यसंख्यायाः स्त्रीरूपोऽर्धो भागः शूद्ररूपश्चान्यस्तदर्धो भागोऽर्थान्मानवसंख्यायाः ३/४ पादत्रयात्मको भागो वैदिकसंस्कारराहित्यादनार्यत्वं प्राप्नोत् । तदुक्तं भगवता मनुना—

> 'कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदाऽनध्ययनेन च ।
> कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥३।६३॥ इति ।
> शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
> वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥' १०।४३॥ इति च ।

यदा क्षत्रियजातयोऽपि वेदाऽनध्ययनेन वैदिकक्रियालोपैश्च वृषलत्वं गताः, तर्हि स्त्रीणां शूद्राणां तु का कथा, यत्राऽज्ञानान्धस एव साम्राज्यं विद्यते ?

---

१. द्र०—'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणं, वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदः, धारणे शरीरभेद इति' (वे० द० शं० भाष्ये १।३।३८) । स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम् इति च ।

५—पाश्चात्यशिक्षायाः प्रभावेण तपोज्ञानोपेतानां ब्राह्मणानामुपेक्षाऽनादरभावश्चेति पञ्चमम् ।

जगति किलैष नियमः—'समाजे यादृशस्य पूजा भवति, सर्वो जनः तादृशमात्मानं भावयितुं यतते' इति । अतएव पाश्चात्यशिक्षाप्रभावेण पाश्चात्यभावभाषादीक्षितानां धनिनां चानार्याणामपि सम्मानभावनायाः प्रसाराद् ब्राह्मणा अपि आंग्लभाषाध्ययनेन येन केन च प्रकारेण धनोपार्जनम् एवात्मनः श्रेयः पश्यन्तः कुलपरंपरागतं वेदाध्ययनं पर्यत्याक्षुः ।

अथेदानीं पाश्चात्यविद्वद्भिरुत्पादितानि तानि कारणानि समुपस्थाप्यन्ते, यैर्वेदप्रचारस्य सम्प्रति विशेषतो ह्रासः संजातः —

१—बहूनाम् ईसाईयहूदीमताग्रहगृहीतानां मैक्समूलरप्रभृतीनां विदुषां 'अनुसन्धानकर्म'व्याजेन वैदिकवाङ्मयविषये अनर्गलप्रलापद्वारा तन्निन्दापुरःसरं तत्राश्रद्धोत्पादनं चेत्येकम् ।

अनेके पाश्चात्या विद्वांसः संस्कृतभाषायां वैदिकवाङ्मये च कं भावं मनसि निधाय प्रयत्नमकार्षुरित्यस्य ज्ञापकानि तेषां कतिपयवचनान्युद्ध्रियन्ते । येन पाश्चात्यविदुषां तथाकथितवेदानुसन्धान-कार्ये प्रवृत्तिर्विस्पष्टतां गमिष्यति । तत्र प्रथममतिप्रसिद्धस्य वैदिकवाङ्मये कृतपरिश्रमस्य मैक्समूलरस्यैव वचनान्युपस्थाप्यन्ते—

(क) 'वैदिकसूक्तानां एका महती संख्यैतादृशी वर्तते, या परमबालिशा जटिला अधमा साधारणी चास्ति' इति ।[1]

(ख) 'मदीयो वेदानुवादो मदीयं (सायणभाष्यसहितम् ऋग्वेदस्य) संस्करणं चोत्तरकाले भारतस्य भाग्यविधानेऽत्यन्तं प्रभविष्यति । यतोऽयं (ऋग्वेदः) तेषां धर्मस्य मूलमस्ति । अहं निश्चयेनानुभवामि यद् (भारतीयधर्मस्य) इदं मूलं कीदृगस्तीत्यस्य निदर्शनं गतत्रिसहस्रवर्षेषु समुपजायमानानां प्रभावाणां समूलोत्पाटनाय एकः प्रधानभूत उपायोऽस्ति' इति ।[2]

(ग) 'संसारस्य सर्वधर्मग्रन्थेषु नवीना-प्रतिज्ञा (ईसाप्रोक्ता बाईबलनामा) ग्रन्थ उत्कृष्टो वर्तते । तदनु कुराननामा ग्रन्थः, य आचारशिक्षायां नवीनप्रतिज्ञाया एव रूपान्तरमस्ति, स्थापयितुं शक्यते । तत्पश्चात् प्राचीना प्रतिज्ञा, दाक्षिणात्यं बौद्धपिटकम्, वेदाः, अवेस्ता इत्येवमादयो ग्रन्थाः सन्ति' ।[3]

---

१. मैक्समूलरस्य भाषणम्, संख्या ४, सन् १८८२ ।

२. मैक्समूलरेण स्वपत्न्यै लिखितस्य (सन् १८६६) पत्रस्यांशः ।

३. मैक्समूलरः स्वपुत्राय प्रहिते पत्र एतद् वचनं लिखितवान् ।

(घ) मैक्समूलरस्य वैदिकवाङ्मयकार्यं तन्मित्राण्यपि कया दृष्ट्याऽपश्यन्, तदर्थं ई० बी० पुसे-नामकेन तन्मित्रेण मैक्समूलराय प्रहितस्य पत्रस्य द्रष्टुमर्हमेतद्वचनम्—

'भवतामेतत् (=वेदविषयकं)कार्यं भारतीयान् ईसाईमतानुयायिनो विधातुं क्रियमाणेषु प्रयत्नेषु नवयुगप्रवर्तकं भविष्यति' इति।

(ङ) अलबर्टवेबर नामा प्राध्यापकः प्राह—'कृष्णस्य मतं, यस्य प्रभावः सम्पूर्णे महाभारते व्याप्तोऽस्ति, द्रष्टुमर्हं वर्तते। तत्तत्र ईसाईकथाया अपरपाश्चात्यमतस्य प्रभावं चोपस्थापयति' इति।[1]

(च) अत एव ईसाईमतपक्षपातिनोऽनेके विद्वांसः—'महाभारतग्रन्थ ईसाप्रादुर्भावादुत्तरं चतुर्थशत्यां संग्रथितः'—इति लिखन्ति।

(छ) मोनियर विलियम्सनामा प्राध्यापको, येन संस्कृताङ्ग्लभाषाया महान् कोशो निर्मितः, स स्वकोशरचनाप्रयोजनं तदुपोद्घात इत्थं प्रदर्शयति—

'यदिदं संस्कृताङ्ग्लभाषाकोषनिर्माणकार्यं संस्कृतग्रन्थानुवादकार्य्यं च बोडननिक्षेपनिधि (ट्रस्ट) द्वारा सम्पाद्यते, तद् भारतीयान् ईसाईमते दीक्षयितुं प्रवृत्तानां साहाय्यप्रदानायैव क्रियते' इति।

सत्येवं, को नाम विपश्चित् मैक्समूलरादीनाम् अनुसंधानमिषेण कृते कार्ये विश्वसेत्? आधुनिकाः पाश्चात्यशिक्षादीक्षिता भगवद्वचनमिव पाश्चात्यविदुषां मतेषु श्रद्दधानाः अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः इति (मुण्ड० २।९) न्यायानुसारं स्वयं नष्टा अपरानपि भारतीयान् नाशयन्ति।

२—भाषाविज्ञानमिषेण दैव्यां वाचि वैदिकवाङ्मये च भीषणप्रहारो द्वितीयम्।

पाश्चात्यैर्विद्वद्भिः कतिपयानां भाषाणां तुलनात्मकमध्ययनं कृत्वा भाषाविज्ञाननामैकं नूतनं मतमाविष्कृतम्। यद्यपि तदत्यन्तं दोषपूर्णं विद्यते, तथापि तदाश्रित्य दैव्या वाचो भारोपीय-सर्वभाषाजननीत्वे विस्पष्टं प्रतीयमानेऽपि तां सर्वभाषाजननीरूप-स्वस्थानतः प्रच्यावयितुं भारोपीयनाम्ना कल्पितामसिद्धमूलां कांचन शशशृङ्गायमाणां भाषां वर्तमानानां भारोपीयभाषाणां जननीं स्वीकृत्य ग्रीकलेटिन्भाषादिवत् तस्याः पौत्रस्थानी दैवी वाक् इति मतमुद्घोषयांचक्रुः।

नैतावदेव, अपितु यथा प्राकृताः पांशुलपादा जना अज्ञानेन सम्यगुच्चारणाऽसामर्थ्येन वा शिष्टव्यवहृतेषु शब्देषु वर्णलोपागमविकारविपर्ययादीन् कुर्वन्ति, कालान्तरे च स एवापशब्दराशिर्भाषापदं भजते, तथैवेयं दैवी वागपि कस्यांचित् पूर्वतन्यां

1. द्र०—संस्कृतसाहित्यस्येतिहासे (सुलभे संस्करणे, सन् १९१४) १८९ तमे पृष्ठे टिप्पणी।

भाषायां विकारं प्राप्य समुत्पन्नेति ब्रुवते।

अपरे ब्रुवते—पूर्वतन्यां कस्यांचित् प्राकृत-भाषायामेव संस्कारं विधाय ब्राह्मणै-रियं गीर्वाणवाणी निष्पादिता इति। तदाहाध्यापको रैप्सनः—

'भारतीयार्यलिखितं वृत्तं साहित्यिकभाषासु सुरक्षितमस्ति। या व्यावहारिक-भाषाभ्यो विकासं प्रापिताः'।[1]

३—डार्विनप्रतिपादितं विकासवादमनुसृत्य सत्यापितस्य भारतीयेतिहासस्य खण्डनं विकृतकरणं च तृतीयम्।

यावान् भारतीयेतिहासः प्राचीनेषु ग्रन्थेषूपलभ्यते, स सर्वोऽप्यैकमत्येन प्रतिपादयति—'यत् सृष्ट्यादौ मानवाः परम-ज्ञानिनोऽनेकविधशक्तिसम्पन्ना धर्मसत्त्वोपेताः परम-दीर्घायुष आसन्। उत्तरोत्तरं ज्ञाने शक्तौ आयुषि च ह्रासः समजनि, मानवाश्चोप-चीयमानरजस्तमस्काः संबभूवुः।' एतद्विपरीतं विकासवादमतं ब्रवीति—'मनुष्या आदौ पशुवत् जाङ्गलिका मांसाहारिणोऽज्ञानिनश्च आसन्। उत्तरोत्तरं ते विकसिताः सन्तः सभ्या अभूवन्।' नैतावदेव, अपितु 'मनुष्याणां पूर्वजा वनमानुषा आसन्, तेषां पूर्वजा वानराः, तेषां च पूर्वजा अन्ये, इत्येवं सर्वेऽपि प्राणिनः सर्वतः प्राक्समुत्पन्नाद् 'अमीबा' नाम्नः प्राणितः उत्तरोत्तरं विकसिताः सन्तो मनुष्यत्वमापुः।' एतं मतमाश्रित्यैव पाश्चात्या विद्वांसो वेदान् पांशुलपादानामविपालादीनां गीतानीति ब्रुवन्ति।

एतान्येव पाश्चात्यमतानि अस्मद्देशीयेषु विश्वविद्यालयेष्वद्यापि पाठ्यन्ते। तेनै-तेषु विश्वविद्यालयेष्वधीतानां मनसि वैदिकवाङ्मये न केवलमश्रद्धैवोत्पद्यते, अपितु त एव कालान्तरे अनुसंधानकार्यं कुर्वन्तः वैदिकवाङ्मयविषये ततोऽपि हीनान् मताना-विष्कुर्वन्ति। एतद् द्योतयितुं द्वयोर्भारतीयविदुषोर्यास्कनिर्वचनसंबन्धिमतमुपस्थाप्यते—

(क) राजवाड़े इत्युपनामा काशीनाथ आह—'निरुक्तस्य निर्बचनपद्धतिरेतादृशी वर्तते, यत् तद् विज्ञानं विद्यास्थानं वा नैव वक्तुं शक्यते ………निरुक्तं विज्ञानं नास्ति, अपि तु विज्ञानस्योपहासो वा वर्तते………। निरुक्तस्य निर्वचनप्रकारो भ्रममात्रं मानवमस्तिष्कस्य व्यर्थः प्रयोगो वा वर्तते। ………अहंससाहसं वक्तुं शक्नोमि यन्निरुक्तस्य निर्वचनपद्धतिरयुक्ता (मूर्खतापूर्णा) विद्यते। पुनरपि तदद्य यावत् स्वस्थानं (वेदाङ्गत्वं) भजते।………निरुक्ते बहुसंख्याकानि निर्वचनानि मूर्खता-पूर्णानि सन्ति, यतस्तानि अशुद्धं सिद्धान्तमाश्रयन्ति।…… एतत्सिद्धान्ताश्रयेण बहूनि

१. केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, अ० २, पृष्ठ ५६-५७।

निर्वचनानि कल्पितानि ।... शुद्धानि निर्वचनानि त्वत्यन्तमल्पकानि विद्यन्ते इति' ।[1]

(ख) अपरो भाषाशास्त्रित्वेन परमख्यातिमापन्नः सिद्धेश्वरवर्माऽऽह—

'एतेन प्रकटीभवति यद् यास्कस्य निर्वचनप्रदर्शनोत्साहः प्रमत्ततासीमां प्राप्तः' इति[2] ।

"यास्कोऽतिनिर्वचनकर्त्ता आसीत् । तस्य निर्वचनमत्तता तत्कल्पनाशक्तिमुज्झितवती । तस्य कल्पनाया दरिद्रता विलक्षणा वर्तते । एतेन गम्भीरदोषेण स न केवलं व्यर्थानि शिथिलानि सारहीनानि सत्याद् दूरं गतानि निर्वचनानि करोति, अपितु प्रतीयते यत् स 'लक्षणाभिरपि केषांञ्चिच्छब्दानामर्थस्य विस्तरो भवति' इति नैव ज्ञातवान् । अत एव लाक्षणिकार्थद्योतनायापि स पृथक् निर्वचनानि आचष्टे इति[3] ।"

एतैरुद्धरणैरतिविस्पष्टं भवति यत्पाश्चात्यैर्विद्वद्भिरीसाईयहूदीमतपक्षपातेनानुसन्धानमिषेण च वैदिकवाङ्मयविषये यः प्रलापो विहितः, तमेव विश्वविद्यालयेष्वधीत्य भारतीया अपि तथाविधा विद्वांसः कीदृशीं मानसिकीं दासतामभजन् इति ? एते खलु पाश्चात्यदृशैव सर्वं पश्यन्ति, न तेषां स्वचक्षुर्विद्यते । अतएव 'पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः' (ऋ० १।१६४।१६) इति श्रुत्या सत्यमुच्यते ।

एवं वेदप्रचारस्य ह्रासकारणान्युपस्थाप्य तत्प्रतीकाराय केचन उपाया निर्दिश्यन्ते—

१—वेदानां वैदिकवाङ्मयप्रामाण्येन तादृशी वैज्ञानिकी व्याख्या कर्तव्या, येन साम्प्रतिकास्तर्कप्रधाना अपि मानवा वेदेषु श्रद्दधीरन्, तदध्ययने च प्रवर्तेरन् ।

२—यज्ञानामपि तादृश्येव वैज्ञानिकी व्याख्या विधेया, यथा वैदिककर्मकाण्डविषये लौकिकानां पाश्चात्यशिक्षादीक्षितानां च हृदयेषु श्रद्धोत्पद्येत । यज्ञानां प्रचारेण वेदाध्ययने प्रगतिर्निश्चितैव ।

३—वेदानामध्ययने श्रवणे च सर्वेऽधिकृताः स्युः । यः खलु वस्तुतोऽनधिकारी भविष्यति, स स्वयमेव तदध्ययनादुपरंस्यति ।

एतस्मिन् विषये दयानन्दसरस्वतीस्वामिनो मतं 'वेदाध्ययने समर्था सर्वे मानवा अधिकृताः' इति नितरां सत्यं वर्तते । अतएव वेदाधिकारनिरूपणप्रसङ्गे तत्रभवान् सत्यव्रतसामश्रम्यप्याह—

---

१. द्र०—'काशीनाथ राजवाडे' द्वारा सम्पादितस्य निरुक्तस्य (पूनानगरस्थ-भण्डारकरप्राच्यविद्यानुसंधानसंस्थानतः प्रकाशितस्य) भूमिका, पृष्ठ ४०-४३ ।

२. इटिमोलोजी आफ यास्क, पृष्ठ ३ ।

३. स एव ग्रन्थः, पृष्ठ ८ ।

"शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षाद्वेदवचनमपि दर्शितं स्वामिदयानन्देन—'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च' (वा० सं० २६।२)।" इति।[1]

यदि हि नाम उक्तमन्त्रानुसारं शूद्राणामतिशूद्राणामपि वेदज्ञानेऽधिकारः, तर्हि स्त्रीभिः किमत्रापराद्धम् ? द्विजपत्नीत्वात्तदध्ययनं प्राप्तमेव। गार्गीवाचक्नव्यादयो बह्वयो ब्रह्मवादिन्यः पुराकल्पे बभूवुरिति वैदिकग्रन्थेष्वतितरां प्रसिद्धमस्ति।

पुराकाले स्त्रीणामपि उपनयनसंस्कारो भवति स्म। गुरोः सकाशाच्च ता वेदमधीयते स्म। तदुक्तम्—

'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्ययनं च वेदानां भिक्षाचर्यं तथैव च॥'[2]

स्त्रीणामुपनयने मन्त्रलिङ्गमपि दृश्यते—'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता'(ऋ० १०।१०९।४) इति।

शूद्रकुलोत्पन्नानां मातङ्गादीनां बहूनां ब्राह्मणत्वप्राप्तिरितिहासग्रन्थेषु श्रूयते। ब्रह्मत्वप्राप्तिर्न वेदज्ञानमन्तरेण कथमपि सम्भवति। तस्माद् वेदाध्ययनात्तच्छ्रवणाद्वा न कश्चिदपि बलान्निरोधयितव्यः। तदैव च 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'(ऋ० ९।६३।५) इति मन्त्रलिङ्गानुसारं विश्वं समस्तमपि वैदिकधर्मानुयायिनं विधातुं वयं समर्था भविष्यामः। वेदस्य सर्वत्र भूमण्डले प्रसारः स्यादित्याकाङ्क्षया स्वामिदयानन्देनार्यसमाजस्य तृतीयो नियमो विहितः—'वेदाः सर्वसत्यविद्यानामाकरग्रन्थाः सन्ति, वेदानां पठनं पाठनं श्रवणं श्रावणं च समस्तानामार्याणां परमो धर्मः' इति।

अहो बत ! वेदवैदिकमतप्रचारार्थोत्सर्गीकृतजीवनेन स्वामिदयानन्देन प्रवर्तित आर्यसमाजोऽपि स्वस्याचार्यस्याज्ञामुपेक्ष्य स्वीयपरमधर्माद् वेदाध्ययनात्सम्प्रति पराङ्मुख इव सम्पन्नः। तस्मात् 'को वेदानुद्धरिष्यति' इति प्रश्नः सर्वदा समेषां सम्मुखं जागर्त्येव।

४—पाश्चात्यविद्वद्भिरीसाईयहूदीमतपक्षपातेन अनुसंधानमिषेण वैदिकवाङ्मयनिन्दका ये ग्रन्था लिखिताः, तेषां विश्वविद्यालयेषु पठनं पाठनं यथा सर्वथा निरुद्धं भवेत्, अस्मत्पूर्वजैर्ऋषिमुन्याचार्यवर्यैः प्रोक्तानाम् अस्मत्सत्येतिहासादिसिद्धपक्षयुतानां ग्रन्थानां च पठनपाठनं यथा सम्भवेत् तथा सामूहिकः प्रयत्नो विधेयः। येन तत्राधीता

१. ऐतरेयालोचने, पृष्ठ ७।
२. श्लोकोऽयं निर्णयसिन्धोस्तृतीयपरिच्छेदे 'इति यमोक्तेः' इत्येवमुद्धृतः।

भाविनो विद्वांसो वेदनिन्दका वेदोपेक्षका वैदिक-संस्कृतिविरहिता वा नोत्पद्येरन् ।

५—पाश्चात्यैर्विद्वद्भिः भाषाविज्ञान-वैदिकदेवशास्त्र-वैज्ञानिकेतिहासादिविषयान् विकासवादं वा पुरस्कृत्य भारतीयभाषा-संस्कृति-साहित्येतिहासादिविषयेषु यद्यदन्यथा प्रलपितमस्ति, तस्य तस्य प्रचारस्य निरोधाय स्वीयया भारतीयविज्ञानसिद्धदृष्टया भाषाविज्ञानादिविषयका ग्रन्था निर्मातव्याः । पाश्चात्यानां मतानां सम्यगालोचना बलवत् खण्डनं च विधेयम् ।

६—वेदानां वैदिकवाङ्मयस्य च प्रचाराय प्राचीनानां ग्रन्थानां मुद्रणाय तादृश उपायो विधेयः, येनेमे ग्रन्थाः सर्वदा सर्वत्र सुलभाः स्युः । तत्तद्ग्रन्थोपोद्घातेषु तस्य तस्य ग्रन्थस्य विषये पाश्चात्यैस्तदनुसारिभिश्च पौरस्त्यैर्यत् किञ्चिन्मिथ्या प्रलपितम्, तस्य तस्य सप्रमाणम् आलोचना विपक्षमुखमर्दनसमर्थं खण्डनं चावश्यमुट्टंकितं भवेत् ।

७—वेदप्रसाराय सुरभारतीप्रसार आवश्यकः । नहि तदन्तरेण वेदप्रचारः कथमपि सम्भविष्यति । अतः संस्कृतभाषाप्रचाराय तादृशो यत्नो विधेयः, येन पुनरियमस्माकीना राष्ट्रभाषा स्वीयं वास्तविकं पदमलङ्कुर्यात् । तदर्थं च सुगमरीत्या संस्कृतभाषाशिक्षका ग्रन्था निर्मातव्याः । स्थाने-स्थाने च संस्कृतपाठशालानां स्थापना कार्या । संस्कृतभाषामध्येतुमुत्साहवर्धनाय छात्रेभ्यः पुरस्कारा वृत्तयो वा प्रदेयाः ।

आशासे पुरस्तान्निर्दिष्टैः कतिपयैरुपायैर्वेदानां पुनः प्रसाराय साहाय्यं लप्स्यते ।

श्रौतमार्गं समुद्दिश्य श्रौतयज्ञस्य प्रक्रियाः ।
व्याख्याता लेशतो ह्यत्र वेदविद्याप्रसिद्धये ।।
प्रसाराय च वेदानाम् उपायाश्चेह दर्शिताः ।
न तु मीमांसकख्यातिं गतोऽस्मीत्यभिमानतः ।।

अन्ते च

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ।।
इति भट्टकुमारिलवचनमनुस्मरन् विरम्यते मया ।

वेदों का महत्त्व और उनके प्रचार के उपाय

ओ३म् बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ।।
ऋ० १०।७१।१।।

यह सब विद्वानों को विदित ही है कि हम वैदिक धर्मानुयायियों के लिए वेद ही परम प्रमाण है । जन्म से लेकर मरणपर्यन्त सब संस्कार, अभ्युदय और निःश्रेयस् सम्बन्धी सब व्यवहार वेदों पर ही आश्रित हैं । अब भी धर्मप्रधान लोगों के लिए वेद ही परम प्रमाण हैं । इसीलिये हमारे ब्राह्मणों ने अभी तक बड़े प्रयत्न से उनको ऐसे कण्ठस्थ करके सुरक्षित रखा है कि जिससे उनमें एक स्थान पर भी स्वर-मात्रा-वर्ण का विपर्यास नहीं मिलता ।

ऐसा होने पर यह विचार पैदा होता है कि—ऐसा क्या कारण है, जिससे वैदिक मत के अनुयायी प्रधानता से वेदों का ही आश्रय लेते हैं ? यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से इस पर विचार करें, तो हमें यह ज्ञात होता है कि पूज्य महर्षि ब्रह्मा से लेके स्वामी दयानन्द सरस्वती[1] पर्यन्त जो ऋषि मुनि और आचार्य हुये, उन्होंने—'वेद सब विद्याओं की, और वर्तमान भूत भविष्यत् के लिये उपयोगी ज्ञान की खान हैं' ऐसा माना है । वेदों में जिस प्रकार का सूक्ष्म और अनिन्द्रियगोचर (=जो इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता) ज्ञान है, उस प्रकार का और कहीं नहीं है ।[2] इसलिये भगवान् मनु ने कहा है—

'सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ।।

---

१. द्र०—''संस्कृत साहित्य का आरम्भ ऋग्वेद से होता है, और उसकी समाप्ति स्वामी दयानन्द की 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' पर होती है''(हम भारत से क्या सीखें' —इसके तृतीय भाषण में, पृष्ठ १०२) ।

२. द्र०—पदार्थ-ज्ञान के विषय में वेदों में बड़ी दक्षता है । पूना प्रवचन,पृष्ठ ४४ (स्वामी दयानन्द का वेदविषयक पांचवां व्याख्यान) ।

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यमप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥'

मनुस्मृति १२।१००, ९७, ९९, ९४ ॥

अर्थात्—'सेनापतित्व, राज्य-शासन, दण्ड का विधान, चक्रवर्ती-राज्य का शासन इन सब के लिये वही योग्य होता है, जो वेदशास्त्र को जानता है। भूत वर्तमान और भविष्यत् सब वेदों से ही सिद्ध होते हैं। जो सनातन वेदशास्त्र है, वही संसार के सब प्राणियों के लिये परम साधन है। पितर अर्थात् ज्ञानी और वयोवृद्ध विद्वान् और साधारण मनुष्य इन सब के लिये वेद ही सनातन चक्षु है। उसकी इयत्ता असीम है, यह वेदशास्त्र की स्थिति है।

इन सब विषयों को जानकर ही भगवान् मनु ने अन्यत्र भी घोषणा की है—'सर्वज्ञानमयो हि सः' (२।७), अर्थात् 'वेद सब ज्ञान से परिपूर्ण है[1]।'

इसी सिद्धान्त का भगवान् कृष्णद्वैपायन मुनि ने भी प्रतिपादन किया है—

'यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम् ॥'

महाभारत, अनु० १२२।४॥

अर्थात्—'लोक में जितने भी आगमशास्त्र (=विभिन्न विषयों के आद्य मूल-ग्रन्थ) और लोक-प्रवृत्तियां देखी जाती हैं, वे सब वेद के आधार पर ही आरम्भ हुई हैं।'

परम ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य मुनि ने भी कहा है—

'न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात् ॥'

बृहद्योगि याज्ञवल्क्य स्मृति १२।१॥

अर्थात्—'वेदशास्त्र से भिन्न कोई शास्त्र प्रमाण नहीं है। समस्त शास्त्र सनातन वेद से ही निकले हैं।

यदि इस तरह से वेद ही सब तरह के ज्ञान के निधि हैं, तो किस कारण महर्षि-

---

१. द्र०—मेधातिथि वा गोविन्द राज की मनुटीका।

गण उन-उन शास्त्रों का प्रवचन कर गये ? तो कहते हैं—

जब सर्गादि में अपरिमित शक्ति के प्रभाव से प्रभावित सामर्थ्यवाले, धर्मसत्त्व-शुद्ध तेज से युक्त[1], अपरिमित बुद्धिवाले, धर्म का साक्षात् किये हुये मानव थे, तब वे वेदों से ही सीधा सब तरह का ज्ञान प्राप्त किया करते थे। उस समय वेद को छोड़कर अन्य कोई शास्त्र न था। जब उत्तरकाल में मानव क्रमशः सत्त्वहीन, प्रवर्धमान रजोगुण और तमोगुण से युक्त, अल्पमतिवाले, उपदेशों के द्वारा भी वेदों के मन्त्रों में विद्यमान विविध विद्याओं को जानने में असमर्थ हो गये, तब उस तरह के अल्प मेधावाले मनुष्यों को विविध विद्याओं का ज्ञान कराने के लिये विविध शास्त्रों का प्रवचन महर्षि लोगों ने किया।

इसी शास्त्रावताररूप इतिहास का भगवान् यास्कमुनि ने निरुक्त में इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।' निरुक्त १।२०॥

अर्थात्—'सृष्टि के आरम्भ में साक्षात्कृतधर्मा (=मन्त्रार्थ का साक्षात् दर्शन करनेवाले) ऋषि हुये थे। उन्होंने असाक्षात्कृतधर्मा (=मन्त्रार्थ को साक्षात् न जानने वाले) मनुष्यों के लिये उपदेश से मन्त्रों के अर्थ जताए। उत्तरकाल के अथवा हीन-मेधावाले, उपदेश से ग्लानि करते हुये (=हमें उपदेशमात्र से वेद समझ में नहीं आता, ऐसा समझनेवाले) लोगों ने इस निघण्टु-निरुक्त ग्रन्थ का, और वेद तथा वेदाङ्गों का अभ्यास[2] किया।'

इसी इतिहास के अनुसार भगवान् याज्ञवल्क्य ने भी कहा है—

> **'दुर्बोधं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते।**
> **तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम्।'**
>
> बृहद्योगि याज्ञवल्क्य स्मृति १२।२॥

---

१. द्र०—पाराशरीय ज्योतिषसंहिता का वचन—'पुरा खलु अपरिमितशक्तिप्रभाप्रभाववीर्या ······ धर्मसत्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः। तेषां क्रमादपचीयमानसत्वानां उपचीयमानरजस्तमस्कानां ·····।' (भट्ट उत्पल कृत बृहत्संहिताटीका, पृष्ठ १५ पर उद्धृत)।

२. मूलधात्वर्थानुसारी पदार्थ। यही अर्थ निरुक्तश्लोकवार्तिक में उपलब्ध होता है। अन्यों ने 'वेदों तथा वेदाङ्गों को बनाया' ऐसा अशुद्ध अर्थ किया है।

'जिनके लिये ज्ञान दुर्बोध्य हुआ, और जो वेदों का अध्ययन न कर पाये, उनके लिये सब वेदों से ज्ञान लेकर ऋषि लोगों ने शास्त्र बनाये।'

महाभारत (शान्ति० २८४।९२) में भी भगवान् वेदव्यास जी ने लिखा है—'वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य', अर्थात् 'वेदों से वेदाङ्गों की रचना की।'

और भी—सम्प्रति शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, पदार्थविज्ञान, साहित्य, कला, शिल्प, राजनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, वास्तुशास्त्र इत्यादि विषयों के जो मुख्य ग्रन्थ मिलते हैं, वे सब अपने-अपने विषयों की वेदमूलकता की मुक्तकण्ठ से घोषणा करते हैं। विस्तारभय से कुछ ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

(१) ज्योतिषाचार्य आर्यभट्ट अपने ग्रन्थ के अन्त में 'ज्योतिष शास्त्र का मूल वेद है', ऐसा कहते हैं।

(२) आयुर्वेदशास्त्र अथर्ववेद का उपाङ्ग है, ऐसा भगवान् सुश्रुत कहते हैं—'इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य।' सु० अ० १॥

(३) पदार्थविज्ञानप्रतिपादक वैशेषिकशास्त्र भी वेद-मूलक है, ऐसी भगवान् कणाद मुनि प्रतिज्ञा करते हैं। जैसे—'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।' वै० १।१।३॥

इसका अर्थ इस प्रकार है—अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः', अर्थात् 'अब धर्म का व्याख्यान करेंगे' ऐसी प्रतिज्ञा करके तद्वचनात्=वैशेषिकप्रतिपाद्य पदार्थधर्म का प्रतिपादन करने से आम्नाय=वेद का प्रामाण्य है।

यहां यह भी जानना चाहिये कि भगवान् कणाद ने केवल 'वेद पदार्थधर्म के प्रतिपादक हैं' यह प्रतिज्ञामात्र ही नहीं की, अपितु कई प्रकरणों में विभिन्न पदार्थों के धर्मों का प्रतिपादन करने के लिये श्रुति-प्रामाण्य भी दर्शाया है। जैसे—

(क) ओलों की उत्पत्ति तेज के संयोग से होती है, ऐसा प्रतिपादन करके आकाश के पानी में तेज का संयोग होता है, इसका प्रतिपादन करते हुए 'वैदिकं च' (५।१।१०) सूत्र से वैदिक वचनों का प्रमाण दर्शाया है। यथा—

'या अग्निं गर्भं दधिरे विश्वरूपास्ता न आपः शंस्योना भवन्तु'।

तै० सं० ५।६।१॥

'आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।'

ऋ० १०।१२१।७॥

'वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम्।' यजु० ११।४६॥

'योऽनिध्मो दीदयद् अप्स्वन्तः।' ऋ० १०।३०।४॥

इन मन्त्रों में जलों में दिव्य अग्नि का संयोग दर्शाया है। इस विषय का प्रतिपादन वेदों के अनेक मन्त्रों में मिलता है।

(ख) शरीर दो प्रकार के हैं—योनिज और अयोनिज, ऐसा बताते हुए अतीन्द्रिय जो अयोनिज शरीर है, उसका प्रतिपादन करते हुए वेदलिङ्गाच्च (४ २।११) इस सूत्र से अयोनिज शरीर के प्रामाण्य के लिये निम्न वैदिक मन्त्र का संकेत किया है—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृत.।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥' ऋ०।१०।९०।१२॥

इस मन्त्र में 'अस्य' इस पद से 'विराट्' नामक पुरुष का परामर्श होता है। वही विराट् पुरुष वैदिकग्रन्थों के सर्ग-प्रकरणों में प्रजापति—हिरण्यगर्भ—सुवर्णाण्ड—महदण्ड आदि शब्दान्तरों से कहा गया है।

(४) न्यायसूत्रकार भगवान् गोतम भी अतीन्द्रियविषयक विज्ञान का प्रतिपादन करनेवाले वेदभाग के प्रामाण्य को बताने के लिये कहते हैं—

"मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्याच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्॥' न्याय० २।१।६८॥

मन्त्रों में जो आयुर्वेद प्रत्यक्षरूप से उपदिष्ट किया गया है, उसके प्रामाण्य की सत्यता लोक में प्रसिद्ध है। उसके प्रमाणित होने से अतीन्द्रिय विज्ञान का प्रतिपादक वेदभाग भी प्रमाणित हो जाता है। क्योंकि जो आप्त ईश्वर प्रत्यक्षविषयभूत आयुर्वेद, जो वेद का ही एक विभाग है, का कर्ता है, वही इन्द्रियातीत विषय के प्रतिपादन करने वाले भाग का भी है। इसलिये एक कर्ता होने से अतीन्द्रियविषयक वेदभाग का भी प्रामाण्य स्वीकार करना पड़ता है।

ऐसा सिद्ध होने पर यदि सब विद्याओं के आकरभूत वेदों को वैदिक-धर्मानुयायी प्राणों से भी प्रिय मानते हैं, तो इसमें क्या आश्चर्य है?

अब वेदार्थ के विषय में कुछ लिखा जाता है। बहुत समय से वैदिक विद्वानों का वेद-प्रतिपाद्य विषय में मतभेद है। सायणाचार्य यजुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में लिखते हैं—

'तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ—कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्याख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्।'

काण्वसंहिता-भाष्य के उपोद्घात में।

अर्थात् 'उस यजुर्वेद में दो काण्ड हैं एक कर्मकाण्ड, दूसरा ब्रह्मकाण्ड। बृहदारण्यक नामक जो ग्रन्थ है, वह ब्रह्मकाण्ड है। उसके अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण और संहिताभाग कर्मकाण्डविषयक हैं। इन दोनों में आधान अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमासादि कर्मों का प्रतिपादन होने से।'

इसी प्रकार अन्य वेदों के विषय में भी जानना चाहिये। वेदाङ्ग ज्योतिष में भी कहा है—**'वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः'** इति। अर्थात् 'वेद का प्रयोजन यज्ञ है।' इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि मन्त्र-संहिताओं में केवल कर्मकाण्ड ही प्रतिपादित है।

यदि वेद का प्रयोजन केवल द्रव्ययज्ञों का ही सम्पादन करना है, तो प्राचीन महर्षियों ने वेद के सर्वविद्यामूलकत्व होने की जो घोषणा की थी, वह समाप्त हो जाती है। इसलिये पूर्वनिर्दिष्ट प्रमाणों के आधार पर **'वेद सब विद्याओं के आकर (=खान) ग्रन्थ हैं'** इस मत की रक्षा के लिये 'वेदमन्त्रों में अनेकार्थप्रतिपादन-शक्ति है' यह स्वीकार करना चाहिये। ऐसा होने पर ही वेदों का वास्तविक महत्व प्रकट हो सकता है, अन्यथा नहीं।

वह मन्त्रों की अनेकार्थता स्वच्छन्द नहीं है, अपितु व्यवस्थित है। और वह व्यवस्था प्राचीन महर्षियो ने त्रिविध प्रक्रियाओं के रूप में स्थापित की है। उनके अनुसार एक अर्थ याज्ञिक, दूसरा आधिदैविक, और तीसरा आध्यात्मिक होता है।

प्राचीन महर्षि और वैदिक विद्वान् वेद के पूर्व-निर्दिष्ट त्रिविध अर्थ करते थे। इस विषय में कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं—

१—भगवान् यास्क—**'वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्'** (ऋ० १०।७१।५) इस ऋग्वेद के अंश की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा।' निरुक्त १।१९॥

इस यास्कीय वचन से दिव्यवाणी वेद के याज्ञिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक ये त्रिविध अर्थ होते हैं, ऐसा स्पष्ट है।

२—भगवान् यास्क ने केवल प्रतिज्ञा ही नहीं की, अपितु वे निरुक्त में वर्णित हुये सब मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या करते हुए 'सब मन्त्रों का आधिदैविकार्थ ही प्रधानभूत है' ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। यास्क अनेक स्थानों पर आध्यात्मिक अर्थ और याज्ञिक अर्थ का भी निर्देश करते हैं। जैसे—

(क) **'एकया प्रतिधा पिबत् साकं सरांसि—काणुका'** (ऋ० ८।७७।४) इस ऋचा की व्याख्या करते हुए कहा है—

'तत्रैतद् याज्ञिका वेदयन्ते—त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवने एकदेवतानि। तान्येतस्मिन् काले एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति। तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते। त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्राः, त्रिंशत्पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः। तद् या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति।' निरुक्त ५।११॥

अर्थात—'याज्ञिकों के मत में मन्त्र-निर्दिष्ट 'तीस सर' तीस उक्थसंज्ञक सोम ग्रह (=पात्र विशेष) हैं, और नैरुक्तों के मत में ३० पूर्व पक्ष तथा ३० अपर पक्ष के अहोरात्र हैं।'

(ख) 'गौरमीमेदनु' (ऋ० १।१६४।२८), और 'उपह्वये सुदुघां धेनुमेताम्' (ऋ० १।१६४।२६) इन ऋचाओं के व्याख्यान में निरुक्तकार ने कहा है—

'वागेषा (गौः धेनुः) माध्यमिका, धर्मधुगिति याज्ञिकाः।' निरुक्त ११।४२॥

अर्थात्—'यह (गौ धेनु) माध्यमिक वाक् गौ है। याज्ञिकों के मत में यज्ञार्थ दोहन की जानेवाली गाय है।'

(ग) यत्रा सुपर्णाः' (ऋ० १।१६४।२१) मन्त्र के व्याख्यान में यास्कमुनि ने कहा है—

'यत्र सुपर्णा सुपतना आदित्यरश्मयः ··· ·· इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—यत्र सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि इत्यात्मगतिमाचष्टे।' निरुक्त ३।१२॥

अर्थात्—'अधिदैवत पक्ष में 'सुपर्ण' आदित्य की रश्मियां हैं, और अध्यात्म में 'सुपर्ण' इन्द्रियां हैं।'

(घ) 'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' (यजु० ३४।५५) इस मन्त्र के व्याख्यान में यास्क ने कहा है—

'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, रश्मयः आदित्ये इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे,षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि इत्यात्मगतिमाचष्टे।' निरुक्ते १२।३७॥

अर्थात्—'अधिदैवत में 'सप्त ऋषि' सप्त सूर्य-रश्मियां हैं, और अध्यात्म में ६ इन्द्रियां (=५ ज्ञानेन्द्रियां और मन) और सातवीं विद्या है।'

इसी प्रकार अन्यत्र भी अधिदैवत के साथ याज्ञिक तथा आध्यात्मिक व्याख्यान को भी भगवान् यास्क ने प्रदर्शित किया है। निरुक्त के १३वें तथा १४वें अध्याय के प्रायः सभी मन्त्रों का आधिदैविक और आध्यात्मिक व्याख्यान मिलता है। इससे यास्क के मत में मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ प्रामाणिक होते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है।

३—पूर्वनिर्दिष्ट यास्कीय मत को ही निरुक्त टीकाकार श्री स्कन्द स्वामी (=महेश्वर) विस्तार से प्रतिपादन करके उपसंहार करते हुए कहते हैं—

"सर्वदर्शनेषु (पूर्वनिर्दिष्टेषु याज्ञिकाधिदैवताध्यात्मिकेषु) च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।"

निरुक्तटीका ७।५

अर्थात्—"सब पक्षों (याज्ञिक, अधिदैवत, और अध्यात्म) में सब मन्त्रों की योजना करनी चाहिये। क्योंकि स्वयं भाष्यकार (=निरुक्तकार यास्क) ने सब मन्त्रों के तीन प्रकार के विषय बताने के लिये 'अर्थ को मन्त्ररूपी वाक् का पुष्प फल' कहा है। और यज्ञ आदि को पुष्प वा फल माना है।"

४—निरुक्त के व्याख्याता दुर्गाचार्य ने भी 'मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ हैं' ऐसा स्पष्ट कहा है। जैसे—

क. 'आध्यात्मिकाधिदैवताधियज्ञाभिधायिनां मन्त्राणामर्थाः परिज्ञायन्ते॥'

निरुक्तटीका १।१८

'आध्यात्मिक अधिदैवत और अधियज्ञ इन तीन विषयों को कहनेवाले मन्त्रों के अर्थ विदित हैं।'

ख. तत्र-तत्र एक एव ह्यसौ आदित्यमण्डले चाधिदैवते चाध्यात्मे च बुद्ध्यधिदेवताभूतः, स एव तत्रतत्रोपेक्षितव्यः। .. अध्यात्मेऽपि हृदयाकाशाद् यानीन्द्रियाणि प्रसर्पन्ति त एव रश्मयः, अधिदैवते च त एव विश्वेदेवा इत्युक्तम्। एवं तत्र-तत्र योज्यम्। प्रकारमात्रमेवेदमुपप्रदर्शितं भाष्यकारेण।' निरुक्तटीका ३।१२॥

'[जहां-जहां विष्णु का कथन है,] वहां-वहां अधिदैवत में आदित्यमण्डल, और अध्यात्म में बुद्धि के देवतारूप आत्मा को ही जानना चाहिये। अधिदैवत में आदित्य की रश्मियां ही विश्वेदेव हैं, और अध्यात्म में हृदयाकाश से जो इन्द्रियां निकलती हैं वे ही रश्मियां हैं। इस प्रकार मन्त्रार्थ की योजना करनी चाहिये। भाष्यकार ने यह प्रकारमात्र का निर्देश किया है।'

ग 'तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् आधिदैविकाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्वे ते योज्याः, नात्रापराधोऽस्ति।' निरुक्तटीका २।८॥

'आधिदैविक आध्यात्मिक और अधियज्ञ के आश्रित जितने अर्थ उपपन्न हो सकते हैं, उन सबकी योजना करनी चाहिये। ऐसा करना कोई अपराध नहीं है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी कई स्थानों पर दुर्गाचार्य ने मन्त्रों की त्रिविध प्रक्रिया दर्शाई है।

५—वेदज्ञों में अलंकारभूत, शब्दशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्य भर्तृहरि भी मन्त्रों के त्रिविध प्रक्रियागम्य अर्थ को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—

"यथा 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (ऋ० १।२२।१७) इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन् अधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं चात्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्तते।" महाभाष्यदीपिका ह० ले०, पृष्ठ २६८॥

अर्थात्—'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (ऋ० १।२२।१७) मन्त्र में एक विष्णु शब्द ही अनेक शक्तिवाला होने से अधिदैवत अध्यात्म और अधियज्ञ में क्रमशः आत्मा (सूर्य) नारायण और चषाल में स्वशक्ति से प्रवृत्त होता है।'

इसी तरह अन्य आचार्यों का मत भी इस विषय में प्रकाशित किया जा सकता है। पर विस्तारभय से रुकना पड़ता है।

कई मन्त्रों के बहुविध अर्थ भी पूर्वाचार्यों ने दर्शाये हैं। यथा—

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' (ऋ० १।१६४।४५) इस ऋचा के छः प्रकार के अर्थ यास्क मुनि ने दर्शाये हैं—

'कतमानि तानि चत्वारि पदानि? ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्पाणां वाग् वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके। पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः॥' निरुक्त १३।९॥

अर्थात्—'चार प्रकार की वाक्—(१) ओंकार और तीन महाव्याहृति, यह ऋषियों का मत है। (२) नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात, यह वैयाकरण मानते हैं। (३) मन्त्र, कल्प, ब्राह्मणग्रन्थ, व्यावहारिकी भाषा, यह याज्ञिक मानते हैं। (४) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और व्याहारिकीभाषा, यह नैरुक्तों का मत है।(५)सर्पों की, पक्षियों की, क्षुद्र जन्तु सरीसृपों की, और व्यावहारिकी, यह कुछ आचार्य मानते हैं। (६) पशुओं की, तूणवों की, मृगों की और आत्मा की यह अध्यात्मवादियों का कथन है।'

इन सब बातों की अच्छे प्रकार समीक्षा करके निरुक्त की व्याख्या करनेवाले दुर्गाचार्य ने कहा है—

(क) 'अनुपक्षीयमाणशक्तयो हि वेदशब्दा यथाप्रज्ञं पुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रब्रुवन्तीति ।' निरुक्तटीका १।२०।।

'वैदिक शब्दों की अभिधान-शक्ति क्षीण होने वाली नहीं है। पुरुषों की प्रज्ञा-शक्ति जैसी होती है, वैसे वैदिक शब्द अर्थों में परिणत होते हैं। वे सर्वतोमुख अनेक अर्थों को कहते हैं।'

(ख) 'नह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति ।।' निरुक्तटीका २।८।।

'मन्त्रों में अर्थों की सीमा नहीं है। ये महार्थ (=अनेक अर्थों से) युक्त है, और कठिनता से आते हैं। जैसे घोड़े पर चढ़नेवाले की विशेषता के अनुसार घोड़े तेज और तेजतर होते हैं, वैसे अर्थ करने वालों की प्रज्ञाशक्ति के अनुसार मन्त्र साधु और साधुतर अर्थ को प्रकट करते हैं।'

इन पूर्वाचार्यों के प्रमाणों से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि वेद केवल द्रव्यमय यज्ञ के लिये ही प्रवृत्त नहीं हुये हैं। वे सर्वविद्याओं और सर्वविध ज्ञानों की खान हैं। वहां जो आधिदैविक अर्थ है, वह साक्षात् विज्ञानपरक है, और वह भी अनेकविध है। उसका निदर्शन आगे किया है। आध्यात्मिक अर्थ भी आत्मा-शरीर-परमात्मा सम्बन्ध से तीन प्रकार से विभक्त हैं।

शेष जो याज्ञिक अर्थ है, वह भी बड़े महत्त्व का है। परन्तु जैसे आजकल के याज्ञिक लोग यज्ञ की व्याख्या करते हैं, उस तरह से इस तर्कप्रधान युग में वे अर्थ उनके महत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर सकते। वस्तुतः इसका कारण यज्ञप्रक्रिया के मूल के परिज्ञान का अभाव ही है। इसलिये यहां निदर्शनमात्र नित्यरूप से विहित श्रौतयज्ञों का वास्तविक प्रयोजन बताया जाता है—

वैदिक वाङ्मय के अनेक वार के परिशीलन से मैंने यह समझा है कि नित्यरूप से विहित अग्न्याधान से लेकर सहस्रसंवत्सरपर्यन्त साध्य (=होने वाले) जितने श्रौतयज्ञ हैं, वे इस ब्रह्माण्ड में सर्ग से लेकर प्रलयपर्यन्त जो अतीन्द्रिय यज्ञ निष्पन्न हुये वा हो रहे हैं, उनके स्वरूपों का ज्ञापन कराने के लिये प्रवृत्त हुये हैं। इस विराट् पुरुष=ब्रह्माण्ड में देवों=प्राकृतिक तत्त्वों के द्वारा जो यज्ञ किये गये वा किये जा रहे हैं, उनको ही आधार बनाकर पुरुषसूक्त का यह मन्त्र प्रवृत्त हुआ कि—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।। ऋ० १०।९०।१६।।

इस आधिदैविकयज्ञप्रतिपादक मन्त्र की व्याख्या यास्क मुनि ने इस प्रकार की है—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाऽग्निमयजन्त देवाः। अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनाजयन्त इति च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः संसेव्यन्त। यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः। द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः!'
निरुक्त १२।४१॥

अर्थात्—'देवों ने यज्ञ से यज्ञ किया, देवों ने अग्नि से अग्नि का यजन किया। अग्नि पशु था, उसका आलम्भन किया, उससे यजन किया, यह ब्राह्मण का कथन है। वे यज्ञ ही प्रधान कर्म थे। उनसे देवों ने स्वर्ग पाया। जहां पूर्वकालिक यज्ञ कराने वाले देव थे। ये देव द्यु स्थानीय देवगण हैं, ऐसा नैरुक्तों का मत है।'

जैसे वर्तमान काल में भूगोल-खगोलशास्त्र के ज्ञान के लिये उनके अनेक प्रकार के चित्र बनाये जाते हैं, अथवा अतीन्द्रिय प्राचीन घटना व कथा का बोध कराने के लिये रंगमञ्च पर नाटक खेले जाते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्ड के विज्ञान को प्राप्त कराने के लिये विविध श्रौतयज्ञों के विधान प्रवृत्त हुये हैं। इसलिये श्रौतयज्ञों के विधान को ठीक प्रकार से जानकर उनके प्रकृतिभूत ब्रह्माण्ड का विज्ञान अच्छे प्रकार जाना जा सकता है।

इसी परमोपयोगी श्रौतयज्ञतत्व को स्पष्ट करने के लिये याज्ञिक आधान-कर्म की क्रिया को बताकर वैदिक ग्रन्थों के उद्धरणों से ही उस आधान कर्म की व्याख्या की जाती है –

अग्न्याधान के लिये प्रथमतः वेदि का निर्माण किया जाता है। वेदि के निर्माण में यह प्रक्रिया है—यज्ञोपयोगी स्थान का निश्चय करके उस भूमि को थोड़ा खोदकर वहां प्रथम जल सींचा जाता है। तदनन्तर क्रम से वराहविहत मृत् (=वराह से खोदी हुई मिट्टी), वल्मीक (=दीमक की बांबी) की मिट्टी, ऊष अर्थात् क्षारयुक्त मिट्टी, बालू, शर्करा (=रोड़ी) इनको बिखेर, ईंटों को जोड़, सुवर्ण को रख, समिधाओं को रख, अरणी को घिस अग्नि का उत्पादन कर, वेदि में अग्नि का आधान किया जाता है।

इस अग्न्याधान-प्रक्रिया में, जब यह भूमि महान् अण्ड से अपनी सत्ता में आई, उस काल से लेकर जब तक पृथिवी के पृष्ठ पर अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ उस समय तक यह भूमि उत्तरोत्तर परिवर्तन को पाकर किन किन अवस्थाओं को पार करके प्रथमतः अपने ऊपर अग्नि को प्रकट करने में समर्थ हुई, यह विषय संक्षेप से बताया है।

सलिलमयी (=द्रवरूपी) भूमि में क्रमशः नव ९ सर्जन (अर्थात् विकार या परिवर्तन) हुये। इसका कथन ब्राह्मण ग्रन्थ में इस प्रकार किया है—

'स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत।..........स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापं ऊषं सिकतं शर्करां अश्मानं अयोहिरण्यं ओषधिवनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्।' श० ६।१।१।१३॥

अर्थात्—'फेन, सूखा द्रव्य, क्षार, बालू, शर्करा (=रोड़ी), पत्थर, लोहा, सुवर्ण, ओषधि-वनस्पति ये क्रम से नव ९ सृष्ट किये गये। इन ओषधि-वनस्पतियों ने पृथिवी को ढक दिया।'

जो यहां जल में नव ९ सृष्टि गिनाई है, उनमें फेनरूप सृष्टि का आधान में उपयोग नहीं किया जाता। अतः उसको छोड़कर अन्य द्रव्यों का आधान प्रक्रियानुसार वर्णन किया जाता है—

१—जब यह भूमि महदण्ड से अलग हुई और स्व सत्ता में आई, तब उसका स्वरूप सलिल=द्रवरूप था। इसलिये कहा है—'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास' (शतपथ ११।१।६।१) अर्थात् आप ही पहले सलिलरूप थे, इस अवस्था को बताने के लिये यह वचन हुआ। भूमि की इसी अवस्था को बताने के लिये वेदि में पहिले जलसेचन किया जाता है।

२—अग्नि के संयोग से सलिल में फेन उत्पन्न हुआ। वही मरुतों के संयोग से घना[1] होकर मृद्भाव को प्राप्त हुआ। उस समय पृथिवी स्वल्प (=थोड़ी सी) ही थी। इसीलिये कहा है—

'स (फेनः) यदोपहन्यते मृदेव भवति।' श० ६।१।३।३॥

'यावद्वै वराहस्य चषालं तावतीयमग्र आसीत्। यद्वराहविहतमुपास्याग्निमाधत्ते।'
मै. सं. १।६।३॥

इस श्रुति-बोधित अवस्था को दिखाने के लिये जल-सेचन के बाद वराह से खोदी हुई मिट्टी बिखेरी जाती है।

३—उसके बाद जब सूर्य के तेज से भूपृष्ठ ऊपरवाला मृद्द्रव्य शुष्क हो गया; तब शुष्कापोरूप सृष्टि हुई। इस अवस्था में उसके नीचे केवल जल ही था। उस

---

१. सोऽग्निमारुतसंयोगात् घनत्वमुपपद्यते। महा० शान्ति० १८२।१५। गरम दूध को ढक दिया जाये, तो मलाई नहीं जमती। इससे स्पष्ट है कि जमने में वायु का संयोग कारण होता है।

अवस्था को जताने के लिये—वल्मीक की मिट्टी को बिखेर कर अग्नि का आधान किया जाता है—'**यद्वल्मीकवपामुपकीर्याग्निमाधत्ते**' (मै. सं. १।६।३)।

वल्मीक की बांबी के नीचे जल रहता है, यह निश्चित सिद्धान्त है, इसीलिये धन्वदेश (=मरु-भूमि) में जल-गवेषक वल्मीक की बांबी के स्थान पर ही प्रायः कुआं खोदना बताते हैं।

४—तत्पश्चात् सूर्य के तेज से वही शुष्काप मृद्द्रव्य ऊषत्व (=क्षारत्व) को प्राप्त हुआ। वही ऊष=क्षाररूपी सृष्टि हुई। इसलिये ऊष को बिखेरकर अग्नि का आधान किया जाता है—'**यदूषानुपकीर्याग्निमाधत्ते**।' मै. सं. १।६।३॥

५—तत्पश्चात् वही ऊष=क्षार सूर्य के तेज से तप्त होकर बालू[1] बना। इसी लिये बालू को बिखेरकर अग्नि का आधान किया जाता है—'**यत्सिकतामुपकीर्याग्नि-माधत्ते**।' मै. सं. १।६।३॥

६—उसके पश्चात् वही बालू सूर्य के तेज से और भीतर की ऊष्मा से शर्करा (=रोड़ी) बनी। तब वह शर्करारूप सृष्टि हुई। इसीलिये शर्करा को बिखेरकर अग्नि का आधान किया जाता है—'**यच्छर्करा उपकीर्याग्निमाधत्ते**।' मै. सं. १।६।३॥

शर्करा की उत्पत्ति से पृथिवी में जो वैशिष्ट्य उत्पन्न हुआ, वह भी वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार दर्शाया गया है—'यह [पृथिवी] पहले शिथिल (=ढीली) थी। उसको प्रजापति ने शर्करा से दृढ़ किया'—'**शिथिरा वा इयं (पृथिवी) अग्र आसीत्, तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत**।' मै. सं. १।६।३॥

यह पृथिवी की दृढ़ता—'**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा**' (ऋ. १०।१२१।५) इस मन्त्र में उपदिष्ट है।

७—तत्पश्चात् वही शर्करा अन्तरूष्मा से तप्त होकर [2]अश्मत्व (=पत्थरभाव) को प्राप्त हुई। वही अश्मसृष्टि हुई। इसीलिये चयन में—इष्टकाएं (=ईंटें) रखने का निर्देश है—'**इष्टका उपदधाति**'। तै. सं. ५।२।८॥

नियत प्रकारवाली वेदी में सुगमता के लिये ईंट का उपयोग किया जाता है। पत्थर को नियत आकार में परिणत करना कष्टसाध्य है। इसीलिये पत्थर के स्थान में ईंटें रखी जाती हैं।

---

१. द्र०—एष वा अग्निर्वैश्वानरो यदसावादित्यः। स यदिहासीत् तस्यैतद् भस्म यत् सिकताः। मै. सं. १।६।३॥

२. शर्कराया अश्मानम्, तस्मात् शर्करा अश्मैव भवति। शत. ६।१।३।३॥

८—पश्चात् वही पत्थर अन्दर की गर्मी से तप्त होकर लोहे से लेकर सुवर्ण तक की धातुओं को उत्पन्न करनेवाले हुये[1]। वही हिरण्यरूपा सृष्टि हुई। इसलिये (=हिरण्य=सुवर्ण) रखकर अग्नि का चयन करना चाहिये—'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्[2]।'

९—इस तरह पृथिवी की रचना पूर्ण होने पर भी वह कछुये के पृष्ठ भाग (=पीठ) के समान बिना बाल की थी। पश्चात् ओषधि वनस्पतियों का उत्पादन हुआ। ओषधि-वनस्पतियां पृथिवी के लोम थे—

'इयं वा अलोमिकेवाग्र आसीत्।' ऐ ब्रा. २४।२२।।

'ओषधिवनस्पतयो वै लोमानि।' जै. ब्रा. २।५४।।

पृथिवी की इसी अवस्था को बताने के लिये वेदी में लोम-स्थानीय समिधाएं रखी जाती हैं।

इस तरह नवमी ओषधि-वनस्पतिरूपिणी सृष्टि के पैदा होने पर वायु के वेग से वनस्पतियों की शाखाओं की रगड़ से पृथिवी के पृष्ठ पर प्रथमत: अग्नि उत्पन्न हुआ। इसीलिये आधानार्थक यजु: का पाठ है—'तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नाद-मन्नाद्यायादधे' (यजु. ३।५)।

इसी तत्त्व को बताने के लिये अग्न्याधान में अरणी [दो काष्ठों] की रगड़ से ही अग्नि का उत्पादन करते हैं। अन्य साधन से अग्नि को उत्पन्न नहीं करते।

इस अग्न्याधानप्रक्रिया के विवरण से स्पष्ट होता है कि ये श्रौतयाग प्रकृति के यागों का ही प्रधिनिधित्व करते हैं।

इसी प्रकार सायं-प्रात: किया जानेवाला अग्निहोत्र रात्रि-दिन का, दर्शपौर्णमास यज्ञ कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष का, चातुर्मास्य याग तीन ऋतुओं का, गवामयन यज्ञ दक्षिणोत्तरायण का, ज्योतिष्टोम संवत्सर का, सहस्रसंवत्सरसाध्य यज्ञ सहस्र चतुर्युग से सीमित सृष्टिकाल का प्रधिनिधित्व करता है। इस तरह इन श्रौतयज्ञों द्वारा अति सूक्ष्म अतीन्द्रिय प्राकृतिक यज्ञ या क्रिया या घटनाचित्र के समान मूर्तरूप से आंखों के सामने उपस्थापित की जाती है, अथवा समझाई जाती है। इससे इन श्रौतयज्ञों के

---

१. अश्मनो लोहमुत्थितम्। महा. उद्योग.।। रसजं क्षेत्रजं चैव लोहसंकरजं तथा। त्रिविधं जायते हेम चतुर्थं नोपलभ्यते।। रसार्णवतन्त्र ७।६९'।

२. मीमांसा शाबर भाष्य १२।१८ में उद्धृत। यही अर्थ 'रुक्ममुपदधाति' (मै. सं. ३।२।६) वचन का है।

अत्याश्चर्य-कारक परमोपयोगी प्रयोजन की व्याख्या स्पष्ट हो जाती है।

श्रौतयज्ञों को सृष्टियज्ञ के व्याख्यान वा नाटक मानने से पशुयज्ञविषयक पशुहिंसा की समस्या भी भली प्रकार सुलझ जाती है। जैसे—काव्य दो प्रकार के होते हैं—श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य=नाटक। श्रव्यकाव्य जो इतिहासरूप होते हैं, उनमें युद्ध आदि के प्रसङ्ग, वा उनमें शत्रु का मारना आदि यथावत् प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु जब श्रव्यकाव्यगत ऐतिहासिक अंश दृश्य काव्य=नाटक में तथा रंगमञ्च पर प्रस्तुत किया जाता है, तब वधादि हिंसाकर्म का साक्षात् निरूपण वा दर्शन नहीं कराया जाता है। वध आदि पटप्रक्षेप आदि द्वारा सूचित किये जाते हैं। यह नाटक की अपनी विद्या है। सृष्टि यज्ञ में केवल पदार्थों का सर्जन ही नहीं होता, सर्जन के साथ किन्हीं का नाश भी होता है। इनमें सर्जनात्मक देवयज्ञ कहाते हैं, और ध्वंसनात्मक आसुर यज्ञ। श्रौतसूत्र-निर्दिष्ट पशुयाग सृष्टिगत आसुर यागों के ही निदर्शक हैं। इसलिये परम कवि मनीषी स्वयम्भू के श्रव्यकाव्यरूप सृष्टिकाव्य=वेद में सर्जनात्मक देवयज्ञों का और विनाशात्मक आसुरयज्ञों का यथावत् निदर्शन है। परन्तु जब उन्हें यज्ञरूपी नाटक के रूप में यज्ञवेदिरूप रंगमञ्च पर प्रस्तुत किया जाता है, तब लौकिक नाटकों के तुल्य ही उनमें साक्षात् पशुवध की क्रिया नहीं की जाती है। पर्यग्निकरण पर्यन्त कर्म करके उन्हें छोड़ दिया जाता है। इसीलिये आयुर्वेदीय चरक-संहिता में लिखा है—

'आदिकाले पशवः समालभनीया बभूवुः। नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रवरकालं ···· पशवः प्रोक्षणमापुः ····· गवालम्भः प्रवर्तितः ·· अतिसारः प्रथममुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।' चिकित्सास्थान १६।४॥

पशुयज्ञों में आरण्य और ग्राम्य दोनों प्रकार के पशु होते हैं। उनमें आरण्य पशुओं का पर्यग्निकरण के अनन्तर उत्सर्जन आज तक याज्ञिक करते चले आ रहे हैं। लिखा भी है—**कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान्।** का० श्रौ० २०।६।६॥ इसी प्रकार पुराकाल में ग्राम्य पशुओं का भी उत्सर्ग होता था। यह ऊपर लिखे चरकसंहिता के वचन से स्पष्ट है।

जब श्रौतयज्ञों की 'सृष्टि-विज्ञान' ही पृष्ठभूमि है, तब याज्ञिक-प्रक्रिया के द्वारा किये जाने वाले अर्थ भी सृष्टि-विज्ञान के प्रतिपादक ही होते हैं। इसलिये वेदों का वैज्ञानिक अर्थ ही मुख्यार्थ है। **'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'** (=जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है) वचनानुसार सृष्टिविज्ञान की भी अध्यात्म में ही परिणति होती है। इसीलिये यह श्रुति प्रवृत्त हुई **'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति'** (ऋ० १।१६४।३९)। उपनिषद् और गीता में भी कहा है—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' । कठोप० २।१५।।

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' । गीता १५।१५।।

अब शेष रह जाती है वेदार्थ की एक प्रक्रिया, जो 'व्यावहारिकी' कहलाती है। उसको भी वेदार्थ में वेदज्ञ प्रमाण मानते हैं। भगवान् मनु ने **'सेनापत्यं च राज्यं च'** इत्यादि पूर्व कहे हुये श्लोकों से राजनीति प्रवर्तन, वर्णाश्रमधर्म, वर्तमान भूत भविष्यत् के उपयोगी विधानों की कल्पना वेदों से ही सम्भव होती है, ऐसा कहा है। इन बातों को साक्षात् सीधे तौर पर बतानेवाले मन्त्र वेदों में नहीं मिलते। इन कर्मों के विधान को बतानेवाले अर्थ वेदों के व्यावहारिक अर्थ को लेकर ही संभव हैं। वह व्यावहारिकार्थ कहीं-कहीं साक्षात् प्रयुक्त उपमाओं के द्वारा, कहीं-कहीं लुप्तोपमा द्वारा, तथा कहीं-कहीं अन्य अलंकारों द्वारा प्रकट होता है। जैसे—

'जायेव पत्य उशती सुवासाः' (ऋ० १०।७१।४); **'विधवेव देवरम्'** (ऋ० १०।४०।२)।

यहां प्रथम मन्त्र में 'पत्नी ऋतुकाल में [शुद्ध होने पर] अच्छे कपड़े पहने'[1] ऐसा द्योतित किया है। दूसरे मन्त्र में यह बताया है कि 'पति के मरने पर विधवा अपने देवर से नियोग या विवाह कर सकती है।'

ऋग्वेद के प्रथममण्डलस्थ दो उषा के सूक्तों में वाचकलुप्तोपमालंकार द्वारा 'उषा के समान स्त्रियां कौन-कौन शुभगुणों से युक्त होवें' यह वर्णन किया गया है। इस विषय में स्वामी दयानन्द कृत ऋग्भाष्य से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

उषर्वद्धितसम्पादिके—ऋग्भाष्य १।४८।१२।। उषा के समान हित का सम्पादन करने वाली।

प्रभातवद्बहुगुणयुक्ते—ऋग्भाष्य १।४८।११।। प्रभात के समान बहुगुणयुक्त।

उषर्वत्कल्याणनिमित्ते—ऋग्भाष्य १।४९।१।। उषा के समान कल्याण की निमित्त।

उषर्वत्पुरुषार्थनिमित्ते—ऋग्भाष्य १।४९।३।। उषा के समान पुरुषार्थ की निमित्त।

इस तरह के ही सामाजिक अभिप्राय शास्त्रों में 'पारिभाषिक दर्शन' शब्द से कहे जाते हैं। यथा शाबर भाष्य (१।३।२) में लिखा है—

---

१. भार्या भर्त्रा शोभनवस्त्रादिभिः परितोष्या इति च। अन्यथा सुवासांसि सा कुतः सम्पादयेत्?

(क) गुरुरनुगन्तव्यः, इत्यस्मिन्विषये—

"तथा च दर्शयति—'तस्माच्छ्रेयांसं पूर्वं यन्तं पापीयान् पश्चादन्वेति।' (मै. सं. ३।१।३) इति।"

गुरु का अनुगमन करना चाहिये। इस विषय में इस वचन से ज्ञात होता है कि—'उत्तम के पीछे अधम चलता है।'

(ख) प्रपा प्रवर्तितव्या तडागं[1] च खनितव्यम्, इत्यस्मिन्विषये—"तथा च दर्शनं-'धन्वन्निव प्रपा असि' (तै० सं० २।५।१२) इति। तथा 'स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति।' (तै० सं० १।६।११) इति।"

प्रपाओं (प्याऊ) का प्रवर्तन करना चाहिये, तालाब खुदवाने चाहिएं। इस विषय में—'इस मरुभूमि में प्याऊ के समान हो', तथा 'कृत्रिम ऊंची भूमि से जल का ग्रहण करते हैं' इन वचनों से उक्त अर्थ कहे जाते हैं।

(ग) शिखाकर्म कर्तव्यम्, इत्यस्मिन्विषये—"दर्शनं च—'यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव।' (ऋ० ६।७५।१७) इति च।"

शिखा रखनी चाहिये। इस विषय में—'जहां बाण गिरते हैं, विविध शिखावाले कुमारों के समान' इस वचन से परिज्ञान होता है।

ऊपर उदाहृत वचनों के वास्तविक अर्थ तो उस-उस प्रकरण के अनुसार भिन्न-भिन्न ही हैं, परन्तु उन्हीं के द्वारा लौकिक कर्मों का भी विधान शबर स्वामी ने बताया है। इस तरह विविध अलंकारों के द्वारा वेदों के व्यावहारिक अर्थ भी किये जा सकते हैं।

वेदों के याज्ञिक आधिदैविक-आध्यात्मिक अर्थ तो बड़े सूक्ष्म हैं। उनमें सब की बुद्धि प्रवेश नहीं कर पाती। परन्तु वेदों के व्यावहारिक अर्थ से तो साधारण लोग भी वैदिक शिक्षा के अनुकूल अपने जीवन को श्रेष्ठ और सुखी बना सकते हैं। इसको जानकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन मन्वादि ऋषियों से स्वीकृत मार्ग का आश्रय लेकर मन्त्रों का व्यावहारिक अर्थ प्रधानता से बताया है। इसीलिये उन्होंने अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के प्रतिज्ञा-विषय में कहा है—

'अथाऽत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालंकारादिना सप्रमाणः संभवोऽस्ति, तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। यत्र खलु व्यावहारिकार्थो भवति...।' ऋ० भा० भू०, पृष्ठ ३६२।

---

१. तडागोऽस्त्रीत्यमरः।

अर्थात्—'जिस-जिस मन्त्र के पारमार्थिक और व्यावहारिक दो अर्थों का श्लेषादि अलंकारों से सप्रमाण संभव है, वहां-वहां उसके दो-दो अर्थ लिखेंगे। ...जहा निश्चय ही केवल व्यावहारिक अर्थ है......।'

याज्ञिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक अर्थ प्राचीन महर्षिवर्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों मे जहां-तहां प्रदर्शित किये हैं। इसलिये उस तरह के अर्थ स्वामी दयानन्द ने साक्षात नहीं किये। यह भी उन्होंने वहीं कहा है—

'परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत्कर्तव्य तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मण-पूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानृषिग्रन्थवत् पुनरुक्तिपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति।' ऋ० भा० भू०, पृष्ठ ३६२॥

अर्थात्—'कर्मकाण्ड में विनियुक्त इन वेदमन्त्रों से अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त जो-जो कर्तव्य कर्म करना होता है, उसका यहां (=इस वेदभाष्य में) विस्तार से वर्णन नहीं करेंगे। क्योंकि कर्मकाण्ड के अनुष्ठान का ऐतरेय शतपथ आदि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा और श्रौतसूत्रादि ग्रन्थों में यथार्थ विनियोग बता दिया है। उसके पुनः कथन से अनार्ष ग्रन्थों के समान पुनरुक्ति और पिष्टपेषण दोष की प्राप्ति होती है।'

इस प्रकार वेदार्थ के विषय में कुछ कहकर, वेदों में प्रतिपादित किये गये अतीन्द्रिय, अतिसूक्ष्म सृष्टि-विज्ञान के प्रतिपादक कुछ मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं।

महदण्ड=विराट् पुरुष की उत्पत्ति—परम पुरुष के सान्निध्य या ईक्षण से प्रकृति उत्तरोत्तर विपरिमाण को प्राप्त होकर भूतोत्पत्त्यनन्तर अण्डभाव[1] को प्राप्त हुई। मन्त्रों में यह अण्ड ही 'गर्भ' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। इस अण्डोत्पत्ति-विषयक अनेक मन्त्र वेदों में मिलते हैं। परन्तु यहां दो ही मन्त्र उदाहृत किये जाते हैं—

---

१. समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में इस प्रकार के संख्यातीत अण्ड उत्पन्न होते हैं। विष्णु पुराण में कहा है—

अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।
ईदृशानां तथा तत्र कोटि-कोटिशतानि च॥ वि० पु० २।६।२७॥

वायुपुराण में भी—अण्डानामीदृशानां तु कोट्यो ज्ञेयाः सहस्रशः। १५१।४६॥

'तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥'

ऋ० १०।८२।६॥

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥'

ऋ० १०।१२१।१॥

इन मन्त्रों में स्मृत क-अज-हिरण्यगर्भ शब्दों से सर्ग के आरम्भ में उत्पन्न होने वाला महद् अण्ड कहा जाता है । वही आदिदेव-प्रजापति-सहस्रशीर्ष-पुरुष आदि पदों से स्मृत है । इस विषय में वायुपुराण के सृष्टि-प्रकरण के 'प्रकृतिक्षोभण' नामक पञ्चमाध्याय का चालीसवां श्लोक द्रष्टव्य है—

'आदित्वाच्चादिदेवोऽसावजातत्वादजः स्मृतः ।
पाति यस्मात्प्रजाः सर्वाः प्रजापतिरतः स्मृतः ॥'

अर्थात्—प्रकृति का आदि=प्रथम विकार होने से 'आदिदेव', प्रकृतिरूप से अनादि होने से 'अज', और सब प्रजाओं (=अपने अन्तर्गत निष्पन्न होनेवाले सब लोकों) का पालक होने से 'प्रजापति' कहा जाता है ।

इस अण्ड की उत्पत्ति आप (=जलतत्त्व)में अग्नि के प्रवेश से होती है । यह भी मन्त्र स्पष्ट कहता है—

'अग्नि या गर्भं दधिरे विश्वरूपास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ।'

तै० सं० ५।६।१॥

अर्थात्—'जिन विश्वरूप धारण करनेवाले आपों ने अग्नि को गर्भ में धारण किया, वे सुखकारक होवें ।'

इस विषय में वायुपुराण का निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य है—

'पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च ।
महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति वै ॥' ४।७४॥

अर्थात्—'पुरुष=परब्रह्म से अधिष्ठित होने से, तथा अव्यक्त=प्रकृति के अनुग्रह से 'महत्' से लेकर 'विशेष'=पञ्चतन्मात्रा पर्यन्त=विकार अण्ड को उत्पन्न करते हैं ।'

जब उस अण्ड में पृथिव्यादि लोक पूर्णता को प्राप्त होते हैं, तब वह अण्ड

अन्तरूष्मा के कारण तप्त होकर स्वर्ण समान हो जाता है। यही मनु जी ने कहा है—'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।' १।६।।

उस अवस्था को प्राप्त हुआ वह अण्डरूप गर्भ हिरण्याण्ड वा हिरण्यगर्भ शब्द से व्यवहृत होता है। उसी का वर्णन पूर्व उद्धृत 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे॰' मन्त्र में मिलता है।

पूर्णता को प्राप्त हुआ वह अण्ड कालान्तर में जब फूटा, उस समय द्यावापृथिवी दोनों अत्यन्त समीप में वर्तमान थे। इसी का कथन निम्न मन्त्र में किया है—

'जामी सयोनी मिथुना समोकसा।' ऋ॰ १।१५६।४।।

इस मन्त्र में 'जामी' इस विशेषण से द्यावापृथिवी की सहोत्पत्ति प्रकट होती है। 'सयोनी' पद से महदण्डरूप के एकयोनित्व, 'मिथुना' शब्द से परस्पर सहभाव, और 'समोकसा' पद से समान-निवासस्थान प्रकट होता है।

इसी मन्त्रगत 'समोकसा' पद का ब्राह्मणग्रन्थों में निम्न प्रकार व्याख्यान मिलता है—

'द्यावापृथिवी सहास्ताम्।' तै. सं. ५।२।३; तै. ब्रा. १।१३।२।।

'सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः।' शत॰ ७।१।२।२३।।

अर्थात्—'उस समय द्यौ और पृथिवी दोनों लोक साथ-साथ थे।'

कालान्तर में ये समान-निवास-स्थानवाले (द्यावापृथिवी) अलग हुये। उनकी पृथक्ता वा दूरी सूर्य के आकाश में चढ़ने से हुई। इसका वर्णन इस मन्त्र में किया है—'अग्न आयाहि वीतये।' साम. पू. १।१।१।।

इस मन्त्र की शतपथ में ऐसी व्याख्या की गई है—

'अग्न आयाहि वीतये इति। तद्वेति भवति वीतय इति समन्तकमिव ह वा इमे अग्रे लोका आसुरिति उन्मृश्या हैव द्यौरास इति।' श॰ १।४।१।७।।

अर्थात्—'हे अग्ने! आओ [द्यावापृथिवी को] दूर करने के लिये। 'वीतये' से दूर होना अर्थ कहा है। आरम्भ (=उत्पत्तिकाल) में ये लोक समीप थे। द्युलोक छूने योग्य था।'

इस मन्त्र में द्यावापृथिवी का दूर होना अग्नि के कारण हुआ है, ऐसा प्रतिपादन किया है। साथ-साथ वर्तमान द्यौ और पृथिवी इन दोनों का अलग होना—'इमौ लोकौ सह सन्तौ व्यैताम्' इस ब्राह्मणग्रन्थ के वचन से भी विदित होता है।

सूर्य के द्यु अर्थात् आकाश में चढ़ने का वर्णन अनेक मन्त्रों में मिलता है। जैसे —'इन्द्रो दीर्घाय चक्षसे आसूर्यं रोहयद् दिवि।' ऋ० १।७।२॥

अर्थात्—'इन्द्र ने विस्तृत प्रकाश के लिये सूर्य को द्युलोक में स्थानान्तरित किया।'

सूर्य और पृथिवी के दूर होने पर मध्य में अन्तरिक्ष बढ़ा। जैसा कि निम्न मन्त्र इसी तत्त्व का कथन करता है—

'यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥' ऋ० ३।२२।२॥

अर्थात्—हे अग्ने! जो तुम्हारा द्युलोक में तेज है, और जो ओषधियों वा जलों में यजनीय अंश है, जिससे यह अन्तरिक्ष विस्तृत हुआ है, वह प्रकाशरूप अर्णव (=समुद्र) प्राणियों की दृष्टि को देनेवाला है।'

द्यावापृथिवी के अलग होने से अन्तरिक्ष का प्रादुर्भाव होना ब्राह्मण ग्रन्थों में भी वर्णित है—

'सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः। तयोर्वियतयोरन्तरेणाकाश आसीत्, तदन्तरिक्षमभवत्।' श० ७।१।२।२३॥

अर्थात्—'ये द्यु और पृथिवी लोक पहले साथ-साथ थे। उनके दूर-दूर होने पर जो मध्य में आकाश था, वही अन्तरिक्ष हुआ।'

अग्नि के कर्म से द्यावापृथिवी अलग हो गये। उनके अलग होने से अन्तरिक्ष विस्तृत हुआ। इसीलिये उक्त मन्त्र में कहा है कि येना (अग्निना) न्तरिक्षमुर्वाततन्थ' (ऋ० ३।२२।२)।

द्यावापृथिवी के अलग होने में, 'सूर्य के दिव्यारोहण में, तथा अन्तरिक्ष के विस्तार में अन्य देवता भी सहायक हुये। इसलिये वेदों में अन्य देवताओं के भी ये कर्मत्रय कहे गये हैं।

मरुतों की किरणें—पृथिवी से लेकर द्युपर्यन्त मरुतों का स्थान है। वे ४९ (=उंचास) संख्यावाले हैं। वे सात हरिवहों (सात घेरों) में विभक्त हैं। एक-एक गण में सात-सात संख्या में रहते हैं। इसलिये शतपथ में कहा है—''सप्तसप्त हि मरुतां गणाः'' (श० ९।३।१।२५)। उनमें एक गण मरीचि[1] नाम का है। उन

---

१. सम्भवतः छठे परिवह के मरुत् मरीचि नामवाले हैं। उनके सान्निध्य से

मरीचि नाम के मरुतों के किरणें भी होती हैं। इसीलिये वेदों में अनेक स्थलों पर मरुतों का '**रुक्मवक्षसः**' ऐसा विशेषण पाया जाता है। उनकी किरणों की सूर्य-रश्मियों के साथ उपमा की जाती है—'**विरोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः**' (ऋ० ५।५५।३)। उत्तर मन्त्र में सूर्य के समान ही मरुतों की चक्षण=दर्शनक्रिया कही गई है। जैसे—'**आभूषेण्यं वो मरुतो महित्वनं दिदृक्षेण्यं सूर्यस्येव चक्षणम्**' (ऋ० ५।५५।४)। यजुर्वेद में '**वायुरसि तिग्मतेजाः**' (१।२४) ऐसा पाठ है। शतपथ में इसकी व्याख्या में—'**एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यदयं पवते**' (१।२।४।७) 'यह तेजों में अधिक तेजवाला है, जो वायु वहता है' ऐसा कहा है। इस वैदिक तत्त्व का निदर्शन ही गीता के '**मरीचिर्मरुतामस्मि**' (१०।२१) (='मरीचियों=रश्मियों में मैं मरुतों की मरीचि हूं') वचन कहा गया है।

सहस्ररश्मि सूर्य—सूर्य में जो किरणें हैं, वे सहस्र प्रकार की हैं। सूर्यरश्मियों का सहस्रविधत्व ऋग्वेद में कहा गया है—'**युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश**' (६।४७।१८)। वैसे ही ब्राह्मण भी कहता है—"**सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः**' (जै० उप० ब्रा० १।४४।५)। महाभारत में भी कहा है—'**यस्य रश्मिसहस्रेषु**' (शान्ति० ३७२।३)। पुराणों में इन सहस्र रश्मियों का विस्तार से वर्णन मिलता है। (देखें—वायुपुराण ५३।१६-२३; मत्स्यपुराण १२८।१८-२२)।

ये ही सहस्रविध किरणें स्थूल रूप से सात विभागों में विभक्त की जाती हैं। इसीलिये सूर्य '**सप्तरश्मि**' '**सप्ताश्व**' आदि नाम से व्यवहृत होता है।

आदित्य-मण्डल में कालापन—आदित्य मण्डल के मध्य भाग में कालापन या कलंक है। इसीलिये वेदों में आदित्य को बहुधा "कृष्ण" शब्द से स्मरण किया गया है। जैसे—'**कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदन्**' (ऋ० १।७९।२)। यहां 'कृष्ण' पद से आदित्यरूप अग्नि का निर्देश है और '**आ कृष्ण ई जुहुराणो जिघर्ति**' (ऋ० ४।१७।१४) इत्यादि में आदित्यरूप इन्द्र। इसीलिये जैमिनि ब्राह्मण में कहा है—

'**असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत् संवत्, यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सर इत्यधिदैवतम् इति**।' जै० ब्रा० २।२८॥

अर्थात्—"जो यह तपता है, वह संवत्सर है। उसका जो प्रकाश करनेवाला भाग है वह 'संवत्' है। और जो 'कृष्ण' भाग है वह सर' है।"

नीचे ऊपर के पञ्चम और सप्तम परिवह में रहनेवाले मरुतों का भी वेद में **रुक्म-वक्षसः** विशेषण मिलता है।

ये काले धब्बे या कलंक सदा गतिशील रहते हैं, एक जगह स्थिर नहीं रहते। इसीलिये इनको 'सर'[1] नाम से पुकारा गया है।

ये ही आदित्य-मण्डल में रहनेवाले काले कलंक चलते रहने से ही 'सर्प' कहलाते हैं। 'सर्पण' का अर्थ भी चलना है। आदित्य-मण्डल में सर्पों की सत्ता—**'ये वामी रोचने दिवो'...... तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः'** (यजु० १३।८) इस मन्त्र में कही है। इसलिये ब्राह्मणग्रन्थ भी कहता है—**'सर्प्पा वा आदित्याः'** (तां० ब्रा० २५।१५।४)। कहीं-कहीं 'सर्पा वा आदित्याः' ऐसा पाठ भी है। अन्यत्र भी कहा है—

'फूत्कारविषवातेन नागानां व्योमचारिणाम्।
वर्षासु सविषं तोयं दिव्यमप्याश्विनं विना ॥'[2]

अर्थात्—'व्योम=आकाश में विचरण करनेवाले नागों के फूत्कार के विष से वर्षा में बरसनेवाला दिव्य जल भी अश्वि नत्रत्र के योग (=आश्विन मास) के विना विषयुक्त होता है, अर्थात् आश्विन मास का जल शुद्ध होता है, इसे गंगाजल भी कहते हैं।'

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अभी-अभी सूर्य-मण्डल में रहनेवाले कालेपन को जाना है। वैदिक विद्वान् तो वेदों द्वारा इस सिद्धान्त को आदि काल से ही जानते हैं। इसलिये कहा गया है कि सब तरह के अतीन्द्रिय ज्ञान को बोध कराने के कारण ही वेदों का वेदत्व है। जैसा कि सायण ने अपने तै० सं० भाष्य के उपोद्घात में कहा है—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥'[3]

अर्थात्—'प्रत्यक्ष से वा अनुमान से जो [आध्यात्मिक वा आधिदैविक अतीन्द्रिय रूप] अर्थ नहीं जाना जाता है, वह वेदों से अवश्य जाना जाता है। यही वेदों का वेदत्व है।'

इस तरह वेद-ज्ञान का महत्त्व और उसके वैभव को बताकर, अब हम वेदों के प्रचार-प्रसार के कुछ उपाय बताते हैं—

वेदों के पुनः प्रसारण के उपायों पर विचार करने से पहिले यह जानना चाहिये

---

१. सरन्तीति सराः। पचाद्यच्।

२. शब्दचिन्तामणिकोषः (भा० १, पृ० ७९९) में गांग शब्द पर उद्धृत पद्य।

३. सायणाचार्यकृत तैत्तिरीयसंहिताभाष्य के उपोद्घात में उद्धृत श्लोक।

कि इसका क्या कारण है कि परम विद्याओं की खान होते हुये भी वेदों का प्रसार उत्तरोत्तर कम होता जा रहा है ? रोग के निदान के विना चिकित्सा नहीं होती। इसलिये वेद-प्रसार का ह्रास क्यों हुआ, यह जानना आवश्यक है। इन कारणों में कुछ कारण भारतीय परम्पराजन्य हैं, और कुछ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा उत्पादित हैं। उनमें भारतीय परम्पराजन्य कारण ये हैं—

प्रथम—वेदाध्ययन केवल अदृष्ट के लिये है, न कि किसी दृष्ट फल को प्राप्त करने के लिये।

इस मत का प्रसार होने से 'मन्त्र अनर्थक हैं'[1] इस मत का प्रादुर्भाव हुआ। इससे जो वेदों का मानव-जीवन के साथ साक्षात् सम्बन्ध था, वह नष्ट हो गया। उसके नाश से वेदाध्ययन को अनर्थक मानकर लोगों ने वेद का पठन-पाठन छोड़ दिया।

द्वितीय—वेद केवल यज्ञों के लिये प्रवृत्त हुये हैं। उनके अतिरिक्त वेदों का और कोई प्रयोजन नहीं है।

इस मत के प्रादुर्भाव से वेदों के आधिदैविक आध्यात्मिक अर्थों के साथ विज्ञान का जो साक्षात् सम्बन्ध था, वह नष्ट हो गया। उसके नाश से निष्प्रयोजन भाव को प्राप्त हुये वेदाध्ययन को 'प्रयोजन के विना मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता' इस न्याय के अनुसार लोगों ने छोड़ दिया।

तृतीय—यज्ञ भी केवल अदृष्ट के लिये है, उसका अन्य कोई लौकिक फल नहीं है।

इस मत के प्रसार से वेद का 'सृष्टि-विज्ञान का ज्ञापन करना' रूप मुख्य प्रयोजन छूट गया। और आजकल के श्रद्धारहित, केवल तर्कप्रधान लोगों ने उनसे विमुख होकर यज्ञों को छोड़ दिया। यज्ञकर्मों के लोप से ब्राह्मणवृत्ति का नाश, उसके नाश से वेदाध्ययन की प्रवृत्ति भी संकुचित हो गई।

चतुर्थ—स्त्रियों और शूद्रों को वेदों के सुनने का भी अधिकार नहीं,[2] तो फिर

---

१. द्र०— यदि मन्त्रार्थप्रत्ययायनायानर्थकं भवतीति कौत्सः, अनर्थका हि मन्त्रा इति (निरुक्त १।१५)। पूर्वमीमांसा (१।२।३१-३९) में इस मत को उपस्थित करके प्रौढ युक्तियों से इस मत का खण्डन किया है।

२. अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणं, वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदः, धारणे शरीरभेद इति (वेदान्त-शाङ्कर-भाष्ये १।३।३८)। स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम् इति च।

उनके अध्ययन की तो क्या कथा ?

स्त्रियों के लिये वेदाध्ययन का प्रतिषेध करने से पत्नियां वेदज्ञान-रहित हो गईं। उनके वैदिक-ज्ञानरूप संस्कार के अभाव से वे अज्ञान आवृत्त हो गईं। इससे उनकी सन्तान भी वैदिक-संस्कार से रहित हो गई। इससे कुल नष्ट हो गये। शूद्रों के वेदों के श्रवणाधिकार को छीन लेने से वे भी वैदिक-संस्कारों से रहित होकर आर्य होते हुये भी अनार्य बन गये। इस प्रकार मानव-संख्या का स्त्रीरूप अर्धभाग तथा शूद्ररूप अन्य अर्ध भाग अर्थात् कुल मानव संख्या में ३/४ भाग ने वैदिक संस्कार-राहित्य के कारण अनार्यत्व को प्राप्त कर लिया। भगवान् मनु ने चेतावनी दी थी—

'कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदाऽनध्ययनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ ३।६३॥

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ १०।४३॥

अर्थात्—'कुत्सित विवाहों, वर्णाश्रम की क्रिया के लोप, वेद के अनध्ययन, और ब्राह्मणों=वेदविद् विद्वानों के निरादर से कुल नष्ट हो जाते हैं। धीरे-धीरे क्रियालोप से और वेदविद् ब्राह्मणों के अदर्शन से ये अंग बंग कलिङ्ग क्षत्रिय जातियां बृषल बन गईं।

जब क्षत्रिय जाति ने भी वेदों के अध्ययन से, और वैदिक क्रिया के लोप से बृषलत्व (शूद्रत्व) प्राप्त कर लिया, तब स्त्रियों की तो क्या ही कथा, जहां अज्ञान का ही एकछत्र साम्राज्य है।

पञ्चम—पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से तपोनिष्ठ ज्ञानी ब्राह्मणों की उपेक्षा तथा अनादर।

जगत् में यह साधारण नियम है कि 'समाज में जिस तरह के मनुष्य की पूजा होती है, उसी तरह का सब लोग अपने आपको बनाने में प्रवृत्त होते हैं'। इसलिये पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से पाश्चात्य भाव वा भाषा में दीक्षित धनी अनार्यों के प्रति सम्मान की भावनाओं के उदय होने से ब्राह्मण भी 'आंग्ल भाषाध्ययन से किसी न किसी तरह धनोपार्जन ही हमारे लिये श्रेयस्कर है' ऐसा मानकर कुल-परम्परागत वेदाध्ययन को छोड़ बैठे।

अब पाश्चात्य विद्वानों द्वारा उत्पादित कारणों को, जिनसे वेद के प्रसार में विशेष ह्रास हुआ, प्रस्तुत करते हैं—

प्रथम—अनेक ईसाईमत पक्षपाती मैक्समूलर प्रभृति विद्वानों द्वारा अनुसंधान के बहाने से वैदिक वाङ्मय के विषय में कल्पित अनर्गल प्रलापों के द्वारा उसकी निन्दा और उसके विषय में अश्रद्धा उत्पन्न करना।

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृतभाषा और वैदिक वाङ्मय के विषय में किस भाव को मन में रखकर प्रयत्न किया, इस विषय को स्पष्ट करने के लिये उनके कुछ वचनों को प्रस्तुत करते हैं। पहिले प्रसिद्ध तथा वैदिक वाङ्मय में विशेष परिश्रम करनेवाले मैक्समूलर के वचन देखिये—

(क) 'वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या ऐसी है, जो छोटे बच्चों की बात के समान मूर्खतापूर्ण हैं। अनेक जटिल, अधम और साधारण हैं।'[१]

(ख) 'मेरा अनुवाद, मेरा (सायणभाष्य सहित ऋग्वेद का) संस्करण उत्तरकाल में भारत के भाग्य के विधान में अत्यन्त प्रभावशाली होगा। क्योंकि यह (=ऋग्वेद) उनके धर्म का मूल है। मैं निश्चय से यह अनुभव करता हूं कि भारतीय धर्म का यह मूल कैसा है, इसका बताना गत तीन सहस्र वर्षों से पैदा हुये प्रभावों को समूल उखाड़ देने में प्रधान उपाय है।'[२]

(ग) ''संसार के सब धर्मों में 'नई प्रतिज्ञा' (ईसाप्रोक्त बाईबल) ग्रन्थ ही उत्कृष्ट है। उसके बाद आता है कुरान नामक ग्रन्थ, यह तो आचार-शिक्षा में 'नई प्रतिज्ञा' का रूपान्तर ही है। उसके बाद आती है 'प्राचीन प्रतिज्ञा' (=यहूदी बाईबल), दाक्षिणात्य बौद्ध पिटक, वेद और अवेस्ता ग्रन्थ।''[३]

(घ) मैक्समूलर के वैदिक वाङ्मय के कार्य को उनके मित्र किस दृष्टि से देखते थे, उसको बताने के लिये मैक्समूलर के ई० बी० पुसे नाम के मित्र ने जो पत्र मैक्समूलर को लिखा था, उसका निम्न वचन देखने योग्य है—

'आपका यह (वेदविषयक) कार्य भारतीयों को ईसाई मतानुयायी बनाने के लिये क्रियमाण प्रयत्नों में नवयुग का प्रवर्तक होगा।'

(ङ) अलबर्ट वेबर नामक प्राध्यापक ने लिखा—'कृष्ण का मत, जो सम्पूर्ण महाभारत में व्याप्त है, वह देखने योग्य है। वह ईसाई मत की कथाओं और अन्य पाश्चात्य मत के प्रभाव को स्थापित करता है। अर्थात् कृष्ण के मत पर ईसाई मत

---

१. मैक्समूलर का भाषण संख्या ४, सन् १८८२।

२. मैक्समूलर का स्वपत्नी को लिखे (सन् १८६६) पत्र का अंश।

३. यह अंश मैक्समूलर ने स्वपुत्र को भेजे पत्र में लिखा है।

की कहानियों तथा अन्य पाश्चात्य मत का प्रभाव दिखाई देता है।"[1]

(च) इसीलिये ईसाईमत पक्षपाती विद्वान् लोग 'महाभारत ग्रन्थ ईसा के बहुत पश्चात् लिखा गया' ऐसा लिखते हैं।

(छ) मोनियर विलियम्स नामक प्राध्यापक, जिसने संस्कृत-आंग्ल-भाषा का बृहद् कोश बनाया है, वह स्वकोश-रचना का प्रयोजन बताते हुये उसके उपोद्घात में लिखता है—

'यह जो संस्कृतांग्लभाषा-कोश के निर्माण का कार्य, तथा संस्कृत ग्रन्थों का अनुवादकार्य बोडन ट्रस्ट द्वारा सम्पादित किया जाता है, वह भारतीयों को ईसाई मत में दीक्षित करने के लिये प्रवृत्त हुये हमारे देशवासियों की सहायता के लिये किया जा रहा है।'

जब पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा किये कार्यों की ऐसी स्थिति है, तो कौन मूर्ख अनुसन्धानव्याज से किये गये मैक्समूलर आदि के कार्यों में विश्वास करेगा ?

द्वितीय—भाषाविज्ञान के बहाने दैवी भाषा तथा वैदिकवाङ्मय पर भीषण प्रहार करना।

पाश्चात्य विद्वानों ने कई भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके 'भाषा-विज्ञान' नामक एक नये मत का आविष्कार किया। यद्यपि वह अत्यन्त दोष पूर्ण है, तथापि उसके आश्रय को लेकर सर्व-भाषा-जननी दैवी भाषा को उसके गौरवमय स्थान से पदच्युत करके के लिये 'भारोपीय भाषा' (Indo Europeon Language) नामक एक नई भाषा की कल्पना की। उसके असिद्ध होने अर्थात् उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण न होने पर भी उसे वर्तमान भारोपीय भाषाओं की जननी मानकर ग्रीक लैटिन भाषाओं के समान इस 'कल्पित भाषा की पौत्री स्थानी दैवी वाक् है', ऐसे मत की घोषणा की है।

इतना ही नहीं—जैसे सामान्य मूर्ख लोग अज्ञान से वर्णों के ठीक-ठीक उच्चारण में सामर्थ्य न रखने के कारण शिष्टव्यवहृत शब्दों में वर्ण-लोप-आगम-विकार-विपर्यय आदि करते हैं, और कालान्तर में वही अपशब्दराशि भाषाभाव को प्राप्त हो जाती है, इसी प्रकार दैवी वाक् भी किसी पुरातन भाषा से विकृत होकर बनी है, ऐसा कहते हैं।

---

१. द्र०—संस्कृतसाहित्य का इतिहास (सुलभ संस्करण, सन् १९१४) पृष्ठ १८९ टिप्पणी।

कुछ अन्य लोग कहते हैं कि पुरानी किसी प्राकृत भाषा का ही संस्कार करके ब्राह्मण लोगों ने इस देववाणी (संस्कृत-भाषा) की रचना की है। अध्यापक रैप्सन कहता है—

'भारतीय आर्यों का लिखा हुआ वृत्तान्त उन साहित्यिक भाषाओं में सुरक्षित है, जो व्यावहारिक भाषाओं से विकसित हो चुकी थीं।'

तृतीय—डार्विन प्रतिपादित विकासवाद के अनुसार सत्य भारतीय इतिहास का खण्डन करना वा उसे तोड़ना-मोड़ना।

जितना भारतीय इतिहास प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है, वह सब एक मत से प्रतिपादन करता है कि—'सृष्टि के आदि में मानव परम ज्ञानी व अनेकविध शक्तियों से सम्पन्न थे, धर्म सत्त्व से युक्त और अत्यन्त दीर्घायु थे। उत्तरोत्तर ज्ञान शक्ति आयु में ह्रास होने लगा। लोग रजोगुण और तमोगुण से युक्त हो गये।' इसके विपरीत विकासवाद मत यह कहता है कि मनुष्य आदि काल में पशुओं के समान जङ्गल में रहनेवाले, मांसाहारी और अज्ञानी थे। उत्तरोत्तर वे विकास को प्राप्त होकर सभ्य बन गये। इतना ही नहीं मनुष्यों के पूर्वज वनमानुष थे, उनके पूर्वज बन्दर, उनके पूर्वज और कोई। इस तरह से सब प्राणी 'अमीबा' नामक प्राणी से उत्तरोत्तर विकसित होकर बने।'[1] इस मत का आश्रय लेकर ही पाश्चात्य विद्वान् वेदों को साधारण लोगों=गडरियों के गीत बताते हैं।

ये ही पाश्चात्य विकृत मत हमारे विश्वविद्यालयों में आज भी पढ़ाये जाते हैं। इस कारण विश्वविद्यालयों में पढ़े हुये लोगों को वैदिक वाङ्मय में न केवल अश्रद्धा उत्पन्न होती है, अपितु वे ही कालान्तर में अनुसन्धान कार्य करते हुए वैदिक वाङ्मय के विषय में पाश्चात्य विद्वानों से भी हीनतर मतों को व्यक्त करते हैं। इसको बताने के लिये हम दो भारतीय विद्वानों का यास्क निर्वचन-सम्बन्धी मत उपस्थित करते हैं—

(क) राजवाडे इस उपनाम से प्रसिद्ध काशीनाथ लिखते हैं—"निरुक्त की निर्वचन पद्धति ऐसी है कि उसे न विज्ञान कह सकते हैं, और न विद्यास्थान .....। निरुक्त विज्ञान नहीं है, अपितु विज्ञान का उपहास है।..... निरुक्त का निर्वचन प्रकार केवल भ्रम है, अथवा मानव-मस्तिष्क का व्यर्थ प्रयोग है।..... मैं साहसपूर्वक कह सकता हूं कि निरुक्त की निर्वचन-पद्धति अयुक्त (=मूर्खतापूर्ण) है। फिर भी वह आज तक वेदाङ्गत्व स्थान को प्राप्त है।..... निरुक्त में बहुसंख्यक

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, अ० २ पृष्ठ ५६-५७।

निर्वचन मूर्खता-पूर्ण हैं, क्योंकि वे अशुद्ध सिद्धान्त पर आश्रित हैं।...........इस सिद्धान्ताश्रय के कारण अनेक निर्वचन काल्पनिक हैं। शुद्ध निर्वचन तो बहुत ही अल्पसंख्यक है।"[१]

(ख) एक भाषाशास्त्री के रूप में ख्याति को प्राप्त हुए सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं—

"इससे ज्ञात होता है कि यास्क का निर्वचनप्रदर्शनोत्साह पागलपन की सीमा को प्राप्त हो चुका है।"[२]

"यास्क निर्वचनशास्त्र का उल्लङ्घनकर्ता था। उसके निर्वचन के पागलपन ने उसकी कल्पनाशक्ति को नष्ट कर दिया था। उसकी कल्पना की दरिद्रता विलक्षण है। इस गम्भीर दोष से वह न केवल व्यर्थ, शिथिल, सारहीन, अयुक्त निर्वचन ही करता है, अपितु यह भी विदित होता है कि वह इसको भी नहीं जानता था कि 'लक्षणादि से भी किन्हीं शब्दों के अर्थों का विस्तार होता है।' इसलिये उसने लाक्षणिक अर्थों के द्योतन के लिये भी पृथक् निर्वचन किये हैं।"[३]

इन उद्धरणों से अत्यन्त विस्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य विद्वान् ईसाई मत के पक्षपात से अनुसंधान के बहाने वैदिकवाङ्मय के विषय में जो प्रलाप कर गये, उसी के अध्ययन से भारतीय विद्वान् कैसी विचित्र मानसिक दासता को प्राप्त हो गये। ये विश्वविद्यालयों में पढ़े हुए विद्वान् पाश्चात्य आखों से ही वैदिक वाङ्मय को देखते हैं, इनकी अपनी आंख नहीं है। इसलिये ऋग्वेद में सत्य ही कहा है— **'पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः' (ऋ० १।१६४।१६)।**

इस तरह वेद-प्रचार के ह्रास के कारणों को बताकर, उनके प्रतिकार के लिये कतिपय उपाय बताते हैं—

(१) वेदों की वैदिकवाङ्मय के प्रमाणों से ऐसी वैज्ञानिकी व्याख्या की जाये, जिससे आधुनिक तर्कप्रधान लोग वेदों में श्रद्धावान् होवें, और उसके अध्ययन में प्रवृत्त होवें।

(२) यज्ञों की भी ऐसी वैज्ञानिक व्याख्या करनी चाहिये, जिससे वैदिक

---

१. द्र०—'काशीनाथ राजवाडे' द्वारा सम्पादित निरुक्त (पूनानगरस्थ भण्डारकर प्राच्यविद्यानुसंधानसंस्थान से प्रकाशित) भूमिका, पृष्ठ ४०-४३।

२. इटिमोलोजी आफ यास्क, पृष्ठ ३।

३. वही ग्रन्थ, पृष्ठ ८।

कर्मकाण्ड के विषय में पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षित सभी प्रकार के लोगों के हृदयों में विशेष श्रद्धा उत्पन्न हो। यज्ञों के प्रचार से वेदाध्ययन में प्रगति होना निश्चित है।

(३) वेदों के अध्ययन और श्रवण का सब को अधिकार हो (जो वस्तुतः अधिकारी नहीं है, वह स्वयं ही उसके अध्ययन से दूर रहता है)।

इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत 'वेदाध्ययन में सब को अधिकार है' अत्यन्त प्रामाणिक है। इसीलिये वेदाधिकारनिरूपण प्रसङ्ग में श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने भी लिखा है—

"शूद्र के वेदाधिकार में साक्षात् वेदवचन भी स्वामी दयानन्द ने प्रदर्शित किया है—'यथेमां वाचं०' (वा० सं० २३।२) इत्यादि।"[१]

उक्त मत के अनुसार यदि शूद्रों और अतिशूद्रों को भी वेदज्ञान में अधिकार है, तो स्त्रियों ने क्या अपराध किया? द्विजपत्नी होने के कारण उनको वेदों के अध्ययन का अधिकार प्राप्त ही है। गार्गी, मैत्रेयी, वाचक्नवी आदि अनेक ब्रह्मवादिनी हो चुकी हैं, ये ब्रह्मवादिनियां वैदिक ग्रन्थों में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

"पूर्व काल में स्त्रियों का उपनयन संस्कार होता था, और वे गुरुजनों से वेदों का विधिवत् अध्ययन भी करती थीं। यथा—

'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्ययनं च वेदानां भिक्षाचर्यं तथैव च॥'[२]

स्त्रियों के उपनयन में मन्त्रप्रमाण भी है 'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता' (ऋ० १०।१०९।४)।

शूद्रकुलोत्पन्न मातङ्गादि अनेक ऋषियों की ब्राह्मणत्व प्राप्ति इतिहास-ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। ब्राह्मणत्व-प्राप्ति वेदज्ञान के विना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। इसलिये वेदाध्ययन से किसी को भी बलात् रोकना ठीक नहीं है। तभी 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' (ऋ० ९।६३।५) इस मन्त्रानुसार सारे विश्व को वैदिक धर्मानुयायी बनाने में हम समर्थ हो सकते हैं। वेद का समस्त भूमण्डल में प्रसार हो, इस आकांक्षा से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज का तीसरा नियम बनाया—

---

१. ऐतरेयालोचन, पृष्ठ ७।

२. यह श्लोक निर्णयसिन्धु के तृतीयपरिच्छेद में 'इति यमोक्तेः' लिखकर उद्धृत किया है।

'वेद सब सत्य विद्याओं का [आकर] ग्रन्थ हैं। वेदों का पढ़ना-पढ़ाना सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।'

अहो! दुःख की बात है! वेद तथा वैदिक मत के प्रसार के लिये जिन्होंने स्व-जीवन का भी उत्सर्ग किया, ऐसे स्वामी दयानन्द के द्वारा जो आर्यसमाज प्रवर्तित हुआ, वही अपने आचार्य की आज्ञा की उपेक्षा करके अपने परमधर्म, जो कि वेदाध्ययन है, उससे अब पराङ्मुख हो गया है। इसलिये 'को वेदानुद्धरिष्यति' वेदों का कौन उद्धार करेगा? यह प्रश्न अब विशेष रूप से उपस्थित है।

(४) पाश्चात्य विद्वानों द्वारा ईसाई मत के पक्षपात से अनुसन्धान के बहाने वैदिक वाङ्मय की निन्दा करनेवाले जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनको विश्वविद्यालयों में पढ़ाना जिस प्रकार सर्वथा बन्द हो जाये, उस प्रकार का विशेष प्रयत्न करना चाहिये। जिससे वहां अध्ययन करनेवाले भावी विद्वान् वेदनिन्दक तथा वेदों की उपेक्षा करनेवाले न बनें।

(५) पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा लिखे गये भाषाविज्ञान, वैदिक देवशास्त्र, वैज्ञानिक इतिहासादि विषयों और विकासवाद को दृष्टि में रखकर भारतीय भाषा-संस्कृति-साहित्य-इतिहास इत्यादि विषयों में पाश्चात्य विद्वानों वा उनके अनुयायी भारतीयों ने जो अन्यथा प्रलाप किया है, उसके प्रचार के निरोध के लिये अपनी भारतीय दृष्टि से भाषा-विज्ञानादि विषयक ग्रन्थ निर्माण करने चाहियें। और पाश्चात्य मतों की प्रौढ आलोचना एवं उनका खण्डन करना चाहिये।

(६) वेदों तथा वैदिक वाङ्मय के प्रचार के लिये प्राचीन ग्रन्थों को छपवाने के लिये ऐसे उपाय किये जायें, जिनसे ये ग्रन्थ सुगमता से प्राप्त हों।

(७) वेद-प्रसार के लिए सुरभारती (संस्कृतभाषा) का प्रचार आवश्यक है। उसके विना वेद का प्रचार कभी नहीं हो सकता। अतः संस्कृतभाषा के प्रचार के लिये महान् यत्न करना चाहिये, जिससे कि यह हमारी राष्ट्रभाषा (संस्कृत) अपने वास्तविक पद को अलंकृत करे। इस हेतु सुगम रीति से संस्कृत-भाषा-शिक्षक ग्रन्थ निर्मित किये जावें, स्थान-स्थान में संस्कृत-पाठशालाओं की स्थापना हो और संस्कृत-भाषा के अध्ययन करनेवाले छात्रों के लिये छात्रवृत्ति तथा पुरस्कारादि का प्रबन्ध हो।

श्रौतमार्गं समुद्दिश्य श्रौतयज्ञस्य प्रक्रियाः।
व्याख्याता लेशतो ह्यत्र वेदविद्याप्रसिद्धये॥
प्रसाराय च वेदानां उपायाश्चेह दर्शिताः।
न तु मीमांसकख्यातिं प्राप्तोऽस्मीत्यभिमानतः॥

मैं आशा करता हूं कि उपरिनिर्दिष्ट कतिपय उपायों से वेद के पुनः प्रसार अवश्य सहायता मिलेगी।

मैंने श्रौतमार्ग को सन्मुख रखकर श्रौतयज्ञों की प्रक्रियाओं का यहां संक्षिप्त व्याख्यान वेदविद्या की प्रसिद्धि के लिये किया है। और वेदों के प्रसार के लिये उपा भी दिखाये हैं। यह सब 'मैं मीमांसक नाम से प्रसिद्ध हूं' इस ख्याति के अभिमान नहीं लिखा।

और अन्त में—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते॥

मैं वेदमार्ग का अनुयायी हूं, इसलिये कहीं मेरे द्वारा स्खलन प्रमाद वा भ्रान्ति होने पर भी मैं निन्दा के योग्य नहीं हूं। सन्मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति से स्खलन हो पर भी सत्पुरुषों द्वारा उसकी निन्दा नहीं की जाती है, अपितु उसका समाधान किया जाता है।

॥ ओं शम्॥

वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं
की
ऐतिहासिक मीमांसा

यह निर्विवाद है कि जब से वेद[1] का प्रादुर्भाव हुआ, तभी से वेदार्थ के समझने-समझाने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। आरम्भ में वेदार्थ का बोध वेद से ही करा दिया जाता था। तदनन्तर जब मतिमान्द्यादि के कारण वेद से वेद का अर्थ समझना-समझाना दुरूह हो गया, तब ऋषियों ने वेदार्थ का ज्ञान करने-कराने के लिये वेदांगों की रचना और उनके अभ्यास द्वारा वेदार्थ-बोध कराने का उपक्रम किया[2]। यतः

---

१. 'वेद' शब्द मूलतः मन्त्र-संहिताओं का वाचक है। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' परिभाषा औतरकालिक तथा एकदेशी है। देखो—हमारा "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचारः" नामक 'अखिल भारतीय प्राच्यविद्या-सम्मेलन' के लखनऊ अधिवेशन (संवत् २००८) में पढ़ा गया संस्कृत-निबन्ध अथवा 'वेदसंज्ञामीमांसा' निबन्ध।

२. 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।' निरुक्त १।२०॥

निरुक्त के इस सन्दर्भ की व्याख्या निरुक्तश्लोकवार्तिककार ने इस प्रकार की है—

असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्ते परेभ्यो यथाविधि।
उपदेशेन सम्प्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च॥
अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे तथा।
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः॥

हमारा हस्तलेख पृष्ठ १३७।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (ऋग्वेदभाष्य भाग १, पृष्ठ ३६६, ४४७) में इसकी लगभग ऐसी ही व्याख्या की है। निरुक्त के उस सन्दर्भ की दुर्ग, स्कन्दस्वामी तथा आधुनिक व्याख्याकारों की व्याख्याएं अशुद्ध हैं।

यज्ञकर्मविधायक कल्पसूत्र वेदाङ्गों के अन्तर्गत हैं, अतः इसी काल में परम्परा से परिज्ञात वेदार्थ को सुरक्षित रखने और उसे सुगमता से हृदयङ्गम कराने के लिये यज्ञों[१] और उपाख्यानों[२] की प्रकल्पना हुई।

आरम्भ[३] से अद्य यावत् सुदीर्घकाल को हम वेदार्थ की दृष्टि से प्रधानतया चार विभागों में विभक्त कर सकते हैं—

प्रथम काल—कृतयुग के अन्त तक, द्वितीय—त्रेता से द्वापर के अन्त तक, तृतीय—कलि के प्रारम्भ से विक्रम की १९वीं शताब्दी तक। चतुर्थ— विक्रम की २०वीं शती से वेदार्थ के चतुर्थ काल का आरम्भ होता है।

इस कालविभाग का निर्देश हम इस प्रकार भी कर सकते हैं—प्राग् याज्ञिक काल, पूर्व याज्ञिक काल, अपर याज्ञिक काल, और आधुनिक काल।

इतने सुदीर्घकाल में देश काल और परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ वेदार्थ-प्रक्रिया की दृष्टि में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहा। उसमें अनेक वाद उत्पन्न हुए। उन्हीं सब वादों की हम यहां भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से संक्षिप्त मीमांसा प्रस्तुत कर रहे हैं। यह भी ध्यान रहे कि हम इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में भारतीय इतिहास के अनुसार ही कालगणना और ग्रन्थरचनाकाल का निर्देश करेंगे।

१—प्राग्याज्ञिक काल (=कृतयुग) का वेदार्थ

हम आगे लिखेंगे कि यज्ञों का प्रादुर्भाव कृतयुग के अन्त अथवा त्रेता के प्रारम्भ (अर्थात् सन्धिकाल) में हुआ। अतः कृतयुग के आरम्भ से लेकर उसके अन्त तक वेदार्थ की क्या परिस्थिति रही, इसका परिज्ञान इस समय पूर्णतया नहीं हो सकता। क्योंकि वर्तमान समय में जितना कि वैदिक वाङ्मय उपलब्ध होता है, वह सब प्रायः भारत युद्ध से ५०० वर्ष पूर्व से लेकर ३०० वर्ष पश्चात् तक प्रोक्त है।[४]

---

१. यज्ञों की उत्पत्ति क्यों और कब हुई, इसकी विवेचना आगे की जायेगी।

२. ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता। निरुक्त १०।१०, ४६॥

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। महाभारत आदि० १।२६७॥

३. कालविभाग-विषयक टिप्पणी इसी निबन्ध के अन्त में परिशिष्ट में देखें।

४. सम्प्रति उपलभ्यमान ब्राह्मण ग्रन्थों में 'ऐतरेय ब्राह्मण' ही एकमात्र ऐसा ब्राह्मण है, जिसका मूल प्रवचन कृष्ण द्वैपायन व्यास तथा उनके शिष्यप्रशिष्यों के प्रवचन काल से १५०० वर्ष पूर्व का है। परन्तु इसका भी वर्तमान रूप महाभारत-कालीन शौनक द्वारा प्रोक्त है। पाणिनि ने ब्राह्मण ग्रन्थों एवं कल्पसूत्रों के प्रवचन को पुराण और नवीन दो विभागों में बांटा है—पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (अ०

प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में एकमात्र मनुस्मृति ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसका मूल रूप से प्रवचन कृतयुग के अन्तिम चरण में, और भृगु द्वारा प्रवचन त्रेता में हुआ[1]। इसी समय में नारद ने मानव धर्मशास्त्र के राजधर्म अंश का पृथक् रूप से प्रवचन किया। कृतयुग के द्वितीय चरण में आदि विद्वान् ब्रह्मा द्वारा विभिन्न शास्त्रों का अति विस्तृत शासन हुआ। उसके पश्चात् ऋषियों ने ब्रह्मा द्वारा शासित सुदीर्घ शास्त्रों का क्रमशः संक्षिप्त, संक्षिप्ततर और संक्षिप्ततम प्रवचन किया। इसीलिये ऋषियों द्वारा किये गये शास्त्रों के समस्त प्रवचन अनुशासन कहाते हैं। वर्तमान काल में विभिन्न शास्त्रों के जितने भी आर्ष ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, वे सब प्रायः उन-उन विषयों के अन्तिम एवं संक्षिप्ततम आर्ष संस्करण हैं[2]। हमारे देश में ग्रन्थ-प्रवचन की एक ऐसी अद्भुत विद्या है, जिसके कारण देश काल और परिस्थिति के अनुसार उत्तरोत्तर प्रवचनों में परिवर्तन परिवर्धन निष्कासन होने पर ग्रन्थ का नवीनीकरण हो जाता है। और प्राचीन उपयोगी अंश भी जैसे के तैसे सुरक्षित हो जाते हैं। यह ग्रन्थ-प्रवचन की विद्या नीरजस्तम (=रजोगुण तमोगुण से रहित) भारतीय मनीषियों की अनुपम देन है। इसी कारण सम्प्रति उपलभ्यमान परम्परागत आर्ष ग्रन्थों में प्राचीन आद्यकालीन वेदार्थ सम्बन्धी कतिपय निर्देश सुरक्षित रह गये हैं। अतः हम मनुस्मृति तथा अन्य आर्ष वाङ्मय के आधार पर प्राग्याज्ञिक काल के वेदार्थ पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

मनुस्मृति के १२वें अध्याय में लिखा है—

सेनापत्यं[3] च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१००॥

४।३।१०५)। कृष्ण द्वैपायन व्यास तथा उनके शिष्य प्रशिष्यों के प्रवचन से पूर्व के ब्राह्मण और कल्पसूत्र पुराण माने गये हैं।

१. महाभारत आश्वमेधिक पर्व २९।१३-१६ के अनुसार जब जामदग्न्य परशुराम ने अमर्ष में आकर मेदिनी को निःक्षत्रिय कर दिया, और द्रविड़ आभीर पुण्ड्रादि वृषल बन गये ('वृषलत्वं गता लोके' मनु० १०।४३)। उसके पश्चात् भृगु ने मानव धर्मशास्त्र का प्रवचन किया।

२. द्र०—हमारा संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २२५, सं० २०३० वि०।

३. प्राचीन पाठ 'सेनापत्यम्' ही है। 'सैनापत्यम्' पाठ पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा कल्पित है।

अर्थात्—संग्राम में सेना का संचालन, राज्यपालन, प्रजा के संरक्षण के लिये उचित दण्डव्यवस्था, और सार्वभौम आधिपत्य वा सर्वलोक=पृथिवी, जल और अन्तरिक्ष का प्रभुत्व पाने के लिये वेदरूपी शास्त्र का जानने वाला ही समर्थ हो सकता है।

आगे पुनः कहा है—

> ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
> त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥११२॥

अर्थात्—प्रत्येक देश काल में व्यवहर्तव्य 'धर्म'=कर्तव्य कर्म[1] के संशय के निर्णय के लिये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के ज्ञाता तीन विद्वानों की परिषद् बनावे।

इसी प्रसङ्ग में और लिखा है—

> भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥९७॥
> बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ॥९८॥

अर्थात्—चारों वर्णों और चारों आश्रमों के भूत वर्तमान और भविष्य[2] तीनों कालों में कर्तव्य कर्मों का पूर्ण ज्ञान वेद से होता है। सारे प्राणियों की रक्षा करने वाला सनातन वेद ही है।

मनुस्मृति के राजधर्म (७।४३) प्रकरण में लिखा है—

> त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
> आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां च वार्तारम्भांश्च लोकतः॥

अर्थात्—राजा त्रैविद्य=तीन प्रकार की विद्याओं के जाननेवालों[3] से (१)

---

१. 'धर्म' शब्द का मूल अर्थ है—"धरति लोकं, धार्यते वा जगद् येन, सः" जिससे संसार की सम्यक्रूप से स्थिति बनी रहे। इस प्रकार धर्म शब्द मानवीय कर्तव्य कर्मों का वाचक है। इसीलिये वेद में श्रेष्ठतम=यज्ञस्वरूप कर्मों के लिये (यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। शत० १।७।१।५) धर्मशब्द का व्यवहार मिलता है—"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" (यजु० ३१।१६)।

२. अनेक विद्वान् हिन्दी भाषा में प्रयुक्त 'भविष्य' शब्द को संस्कृत के 'भविष्यत्' शब्द का अपभ्रंश अर्थात् 'तद्भव' मानते हैं, परन्तु यह मन्तव्य अयुक्त है। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में 'भविष्य' शब्द का प्रयोग बहुधा मिलता है।

३. 'त्रैविद्य' शब्द पर टिप्पणी इसी निबन्ध के अन्त में परिशिष्ट में देखें।

दण्डनीति=राजनीति, (२) आन्वीक्षिकी=पदार्थविज्ञान[1], तथा (३) अध्यात्म=शरीर आत्मा और परमात्मा-सम्बन्धी तीन विद्याओं को, और लोक से वार्तारम्भ=शिष्टाचार[2] को सीखे।

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि भगवान् मनु के मतानुसार वेदों में (१) संग्राम में सेना का संचालन, (२) राज्य का पालन, (३) दण्डव्यवस्था=प्रजा को दुःख देने-वालों का दमन, (४) आधिभौतिक तथा आधिदैविक पदार्थों का विज्ञान, (५) अध्यात्म[3] विद्या अर्थात् शरीर का नैरोग्य, आत्मा के स्वरूपज्ञान से सांसारिक दुःखों

---

१. आन्वीक्षिकी के मुख्य ग्रन्थ हैं–गौतमीय न्यायशास्त्र, तथा कणादीय वैशेषिक। इन दोनों का प्रतिपाद्य विषय है—पदार्थों का स्वरूप और उनके गुणों का वर्णन। प्रमाण आदि का प्रतिपादन प्रमेयविज्ञान=पदार्थ-विज्ञान के लिये किया है, अर्थात् प्रमेयज्ञान प्रमाणज्ञान का साधन है। प्रमेय का ज्ञान कराना इन शास्त्रों का मुख्य प्रयोजन है। अतएव हमने आन्वीक्षिकी का अर्थ पदार्थ-विज्ञान किया है। कौटिल्य ने 'सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी' में सांख्य और योग को भी आन्वीक्षिकी में गिना है। वह भी हमारे मत का पोषक है, क्योंकि सांख्य सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करता है, और योग का सम्बन्ध शरीर-विज्ञान से है।

२. टीकाकारों ने 'वार्तारम्भ' का अर्थ कृषि वाणिज्य तथा पशुपालन आदि लिखा है। हमें वह ठीक नहीं जंचता, क्योंकि प्राचीनकाल में इन विद्याओं के भी शास्त्र विद्यमान थे। अतः इन विद्याओं को भी अन्य विद्याओं के समान तत्तत् शास्त्रों से सीखा जा सकता है, लोक की शरण लेना आवश्यक है। वार्ता शब्द का अर्थ बोलचाल भी होता है। स्वयं हिन्दी का बात शब्द भी वार्ता का अपभ्रंश है। अतः वार्तारम्भ का सीधा अर्थ 'बातचीत आरम्भ करने का ढङ्ग' अर्थात् 'शिष्टाचार' है। शिष्टाचार की मर्यादा देश वा काल के भेद से भिन्न-भिन्न होती है। अतः विभिन्न देशों वा कालों के शिष्टाचारों का वास्तविक ज्ञान लोक-व्यवहार से ही हो सकता है। शास्त्र से तो साधारण शिष्टाचार का ही शासन होता है। राजा को लोक-व्यवहार में अवश्य प्रवीण होना चाहिये, अतएव मनु ने 'वार्ता' को लोक से सीखने का आदेश दिया है।

३. आत्मा शब्द शरीर जीव और ईश्वर तीनों के लिये प्रयुक्त होता है। आत्मा का जीव और ईश्वर अर्थ सर्वप्रसिद्ध है। 'हन्ति आत्मानमात्मना', तथा 'तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वद्' (अथर्व० १०।२।३२) आदि में आत्मा शब्द शरीर अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

से निवृत्ति, और परमात्मा के ज्ञान से आनन्द की प्राप्ति आदि आदि अनेक विद्याओं का वर्णन है। अर्थात् वेद में इन विद्याओं का वर्णन होने से मनु के मत में वेद का अर्थ इन विद्याओंपरक करना चाहिये।

इसीलिये मनु ने वेद के विषय में अन्यत्र भी लिखा है—

'सर्वज्ञानमयो हि सः' ॥२।७॥

अर्थात्—वेद समस्त विद्याओं का आकर है।[1]

मनु के उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि एक अन्य दिशा से भी होती है, जो कि अत्यन्त प्रबल है। इस समय संस्कृत वाङ्मय में जितने विषयों के ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे सब अपने विषयों को वेदमूलक कहते हैं। अर्थात् उनके मतानुसार वेद में उन-उन विद्याओं का वर्णन है। इस दृष्टि से वेद में—

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, साहित्य, कला, शिल्प, राजनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद=संगीत, तथा नाटच, कर्म, ज्ञान और उपासना।[2]

आदि आदि अनेक विषयों का प्रतिपादन मानना होगा। तभी उन-उन विषयों

---

१. द्र०=मेधातिथि गोविन्दराज आदि की प्राचीन टीकाएं।

२. व्याकरण की वेदमूलकता के लिये देखिये—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ५४-५५, सं० २०३० वि०। आर्यभट्टीय के अन्त में ज्योतिष शास्त्र को वेद से निःसृत कहा है। सुश्रुत में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा है—'इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य' सूत्र स्थान अ० १॥

सभी शास्त्रों की सामान्यरूप से वेदमूलकता के लिये देखिये—

'यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्' ॥ महा० अनु० १२२।४॥

'न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
सर्वं विनिःसृतं शास्त्रं वेदशास्त्रात् सनातनात् ॥

दुर्बोधं तु भवेदयस्मादध्येतुं नैव शक्यते।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम्'॥

बृहद्योगियाज्ञवल्क्य स्मृति अ० १२, श्लोक १-२। स्मृतिसन्दर्भ भाग ४, पृष्ठ २३३४, मनसुखराय मोर संस्क०।

की वेदमूलकता स्वीकार की जा सकती है। दूसरे शब्दों में वेद का अर्थ इन सभी विद्याओं की दृष्टि से करना चाहिये, तभी तत्तद् ग्रन्थकारों का उन-उन विषयों की वेदमूलकता का कथन उपपन्न हो सकता है।

महर्षि कणाद वेद की प्रामाणिकता का उपपादन पदार्थविज्ञान की दृष्टि से करते हैं। उनके वचन हैं—

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥
तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ वैशे० १।१।१-४॥

अर्थात्—अब हम यहां से आगे धर्म का व्याख्यान करेंगे। जिससे लौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति हो, वह धर्म है। उसी धर्म का प्रतिपादन करने से वेद का प्रामाण्य है (अपौरुषेय या ईश्वरवचन होने से नहीं)। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय इन छः पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा धर्मविशेष के ज्ञान से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से पारलौकिक सुख की सिद्धि होती है।

वैशेषिक के इन सूत्रों में 'धर्म' शब्द का अभिप्राय पदार्थों के गुणों से है किसी पुण्य या अदृष्ट से नहीं। क्योंकि सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रतिपाद्यविषय पदार्थों के गुणों की मीमांसा करना ही है। यदि यहां धर्म से अभिप्राय अदृष्ट का होता, तो ग्रन्थकार—"दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय" (१०।२।६) सूत्र के अनन्तर पुनः "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" सूत्र न बनाते।

महर्षि कणाद के उपर्युक्त सूत्रों से स्पष्ट है कि वे वेद में न केवल पदार्थविज्ञान का ही प्रतिपादन मानते हैं, अपितु वे वेदप्रतिपादित पदार्थविज्ञान[1] की सत्यता के आधार पर ही वेद का प्रामाण्य भी सिद्ध करते हैं। इसके लिये वे दो स्थानों पर वैदिकं च (४।२।१०) तथा वेदलिङ्गाच्च (४।२।११) सूत्रों द्वारा साक्षात् वेद का

---

१. वेद के मन्त्रों में बहुत्र पदार्थविज्ञान के स्पष्ट संकेत हैं। यथा—'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (यजु० २३।१०, ४६); 'अप्स्वन्तरममृतमप्सु भेषजम्' (अथर्व० १।४।४); 'क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे' (अथर्व० ४।१७।६)। सौर और चान्द्र वर्ष के भेद को मलमास द्वारा दूर करने का निर्देश—'वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उप जायते' (ऋ० १।२५।८) में मिलता है। इत्यादि।

प्रमाण भी उपस्थित करते हैं ।[1]

न्यायसूत्रकार भगवान् गौतम भी मन्त्रान्तर्गत (=मन्त्रप्रतिपादित) आयुर्वेद (=चिकित्साविज्ञान) के प्रामाण्य द्वारा वेद का प्रामाण्य सिद्ध करते हैं। उनका इस विषय का प्रसिद्ध सूत्र है—

'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ।' २।१।६८॥

अर्थात् – वेदमन्त्रों में जिस आयुर्वेद=चिकित्साविज्ञान का प्रतिपादन है, वह लोक में सत्य घटित होता है। इसलिये मन्त्रायुर्वेदरूपी एक देश के प्रत्यक्ष से वेद के उस भाग का भी प्रामाण्य समझना चाहिये, जिसमें आयुर्वेद का प्रतिपादन नहीं है। क्योंकि वेदोक्त आयुर्वैदिक प्रत्यक्ष विज्ञान द्वारा वेद के रचयिता का आप्तत्व सिद्ध है। वही आप्त उस भाग का भी रचयिता है, जिसमें आयुर्वेद का साक्षात् प्रतिपादन नहीं है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में क्रमशः अर्थशास्त्र, धनुःशास्त्र, संगीतशास्त्र और चिकित्साशास्त्र[2] का विशेषरूप से प्रतिपादन है, इसलिये ये शास्त्र क्रमशः चारों वेदों के उपवेद माने जाते हैं।

इन सब संकेतों से स्पष्ट है कि अति प्राचीन काल के महर्षि "वेद में लोकोपयोगी समस्त विद्याओं, आधिदैविक तथा आधिभौतिक पदार्थों के विज्ञानों और आध्यात्मिक तत्त्वों की विस्तार से विवेचना की है" ऐसा समझते थे। भारतयुद्धकालीन विविधरूपेण परिवर्तित परिवर्धित, तथा मूल उद्देश्य से बहुत दूर गई हुई याज्ञिक प्रक्रिया[3] के अनुसार लिखे गये ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित वेदार्थ से इन विषयों पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता।

पञ्चविध वेदार्थ-प्रक्रिया

तैत्तिरीय उपनिषद् (१।३।१) में वेदार्थ के पांच अधिकरण (=प्रक्रिया) का निर्देश मिलता है। यथा—

१, इसके लिये द्रष्टव्य—'वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च' निबन्ध पृष्ठ ९।

२. कई आचार्य चिकित्साशास्त्र को ऋग्वेद का उपवेद मानते हैं (देखो—चरणव्यूह; ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्य संहिता—स्मृतिसन्दर्भ भाग ४, पृष्ठ २३४३; संस्कारविधि वेदारम्भ संस्कार के अन्त में)। परन्तु सुश्रुत (सूत्रस्थान १।३); काश्यप (विमान स्थान, पृष्ठ ४२) आदि संहिताओं में आयुर्वेद को अथर्ववेद का ही उपवेद कहा है।

३. याज्ञिक प्रक्रिया का मूल उद्देश्य, तथा उसमें किस प्रकार परिवर्तन हुए, इनका वर्णन अनुपद ही किया जायेगा।

'अथातः संहितायां उपनिषदं व्याख्यास्यामः । पञ्चस्वधिकरणेषु । अधिलोकम् अधिज्यौतिषम्, अधिविद्यम्, अधिप्रजम्, अध्यात्मम् ॥

त्रिविध वेदार्थ-प्रक्रिया

कृतयुग के तृतीय चरण में मनुष्य-समाज में क्रमशः सत्त्वगुणों की न्यूनता और रजोगुण की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्यों की मेधाशक्ति घटने लगी[1]। इस प्रकार जब मेधाशक्ति के ह्रास के कारण प्राचीन विविध ज्ञानविज्ञानपरिगुम्फित वेदार्थ भूलने लगा, तब ऋषियों ने विविध प्रक्रियानुसारी बहुविध प्राचीन वेदार्थ को 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः' न्याय के अनुसार आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक[2] इन तीन प्रक्रियाओं के अन्तर्गत सीमित कर दिया। तदनुसार पदार्थविज्ञान का समावेश आधिभौतिक प्रक्रिया में, ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति गति और उनके चराचर जगत् पर होनेवाले प्रभाव अर्थात् ज्योतिषविज्ञान कालविज्ञान ऋतुविज्ञान आदि बहुविध विज्ञानों का समावेश आधिदैविक प्रक्रिया में, तथा शरीरविज्ञान जीवविज्ञान और ईशविज्ञान का समावेश आध्यात्मिक प्रक्रिया में किया गया।

इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित पञ्चविध प्रक्रिया में से अधिलोक अधिज्योतिष का आधिदैविक प्रक्रिया में, अधिविद्य का आधिभौतिक प्रक्रिया में, तथा अधिप्रज और अध्यात्म का आध्यात्मिक प्रक्रिया में अन्तर्भाव जानना चाहिये।

कृतयुग के चतुर्थ चरण में उत्तरोत्तर मेधाशक्ति के ह्रास के कारण पूर्वोक्त बहुमुखी त्रिविध वेदार्थप्रक्रिया भी दुरूह होने लगी। इसी समय में मनुष्यों में रजोगुण की वृद्धि और तमोगुण की उत्पत्ति के कारण लोभ का प्रादुर्भाव हुआ।[3]

---

१. 'पुरा खलु अपरिमितशक्तिप्रभाप्रभाववीर्य··· ··· धर्मसत्त्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः। तेषां क्रमादपचीयमानसत्त्वानाम् उपचीयमानरजस्तमस्कानां ··········· तेजोऽन्तर्दधे।' पराशरकृत ज्योतिषसंहिता का वचन, भट्ट उत्पलकृत बृहत्संहिता की टीका (पृष्ठ १५) में उद्धृत, तथा श्री पं० सूरमचन्द्र जी वैद्यवाचस्पतिकृत 'आयुर्वेद का इतिहास' (पृष्ठ १९८) में निर्दिष्ट।

२. इनका निर्देश दुर्गाचार्य ने निरुक्त टीका ४।१९ में किया है—'मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव ह्यग्नेरध्यात्माधिदैवाधिभूताधियज्ञेष्ववस्थानम्' वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया के अनुसार अधिदेव अधिभूत अध्यात्म एक त्रिक है। दूसरा त्रिक अधिदेव अधियज्ञ अध्यात्म है। दुर्गाचार्य ने दोनों त्रिकों को मिलाकर चार वाद के रूप में लिखा है।

३. 'भ्रश्यति तु कृतयुगे········ लोभः प्रादुरासीत् ॥२८॥ ततस्त्रेतायां लोभाद-

बलवान् और साधन-सम्पन्न व्यक्ति लोभ के वशीभूत होकर प्रजा को सताने लगे।[१] इस मात्स्यन्याय[२] से प्रजा का त्राण करने के लिये ऋषियों ने वर्णव्यवस्था और राजव्यवस्था[३] के साथ-साथ पदार्थविज्ञान के अध्ययनाध्यापन तथा उसके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिये।[४] इस प्रकार पदार्थविज्ञान के क्षेत्र में संकोच के साथ-साथ वेदार्थ का क्षेत्र भी बहुत संकुचित हो गया।

वेदार्थ में दो नये वादों का प्रादुर्भाव

इसी समय में अर्थात् कृतयुग के अन्त में अथवा त्रेता के प्रारम्भ में वेदार्थप्रक्रिया में दो नये वादों ने जन्म लिया। जिनमें एक था—दैवतवाद, और दूसरा—याज्ञिकवाद। इन वादों का उत्तरकालीन वेदार्थप्रक्रिया पर भारी प्रभाव पड़ा।

नये दैवतवाद ने प्राचीन आधिभौतिक और आधिदैविक दोनों प्रक्रियाओं का सम्मिलितरूप से प्रतिनिधित्व किया। तदनुसार अग्नि जल वायु विद्युत् सूर्य चन्द्र आदि पदार्थों को देवता का रूप दिया गया। इस देवतावाद की शनैः-शनैः परिसमाप्ति अधिष्ठातृवाद में हुई।

इन तीन प्रक्रियाओं के निर्देश के लिये देखिये—

न श्रुतमतीयात्—

अधिदैवमथाध्यात्ममधियज्ञमिति त्रयम्।
मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु चैव श्रुतमित्यभिधीयते॥

शाङ्खायन गृह्य १।२।१८, १९॥

भिद्रोहः, अभिद्रोहाद् अनृतवचनम, अनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेषपारुष्याभिघात-भयतापशोकचिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः' ॥२६॥ चरक-संहिता विमानस्थान अ० ३।

१. बड़ी और बलवान् मछली छोटी वा निर्बल को खा जाती है। यह मात्स्यन्याय कहाता है। देखो—अगली टि० २।

२. जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः। अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्। परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्॥ महा० शान्ति० अ० ६७, श्लोक १६, १७॥

३. 'मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे'। अर्थशास्त्र १।१३॥

४. पुराकाल में भयानक जनसंहारक अस्त्रों के निर्माण और प्रयोग पर विशेष प्रतिबन्ध था, यह पुराने इतिहास से स्पष्ट है। बेकारी के बढ़ाने और ग्रामों की आत्मनिर्भरता के नाशक होने से मनुस्मृति ११, ६३ में 'महायन्त्र-प्रवर्तन' को भी उपपातकों में गिना है।

अधियज्ञं ब्रह्म जपेद् आधिदैविकमेव च।
आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत्[1] ।। मनु० ६।८३।।

यज्ञों की उत्पत्ति क्यों और कब हुई, उनमें किस प्रकार उत्तरोत्तर परिवर्तन तथा परिवर्धन हुए, और उनका उत्तरोत्तर वेदार्थप्रक्रिया पर क्या प्रभाव पड़ा, इनकी विवेचना हम अनुपद करेंगे।

२—याज्ञिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ[2]

हम पूर्व लिख चुके हैं कि कृतयुग के अन्तिम चरण में आधिभौतिक वेदार्थ लुप्त होने लगा, आधिदैविक वेदार्थ की दिशा परिवर्तित हो गई, तथा काम क्रोध लोभ मोह आदि दोषों के कारण आध्यात्मिक भावना न्यून हो गई। उस काल में आधियाज्ञिक प्रक्रिया का प्रादुर्भाव हुआ। उसने न केवल मृतप्राय आधिभौतिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का स्थान ही लिया, अपितु प्रारम्भ में आधिदैविक और आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की रक्षा में भी हाथ बंटाया।

यज्ञों की कल्पना का प्रयोजन

सृष्टि के आरम्भ में सत्त्वगुणविशिष्ट योगजशक्तिसम्पन्न परावरज्ञ ऋषि लोग

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—'अधियज्ञ ब्रह्म जो ओंकार, उसका जप=उसका अर्थ जो परमेश्वर उसमें नित्य चित्त लगावे। और आधिदैविक इन्द्रियां और अन्तःकरण उसके दिशादि देवता श्रोत्रादिकों के उनका जो परस्पर सम्बन्ध उसको योग से साक्षात् करे। और आध्यात्मिक जीवात्मा और परमात्मा का यथावत् ज्ञान, और प्राणादिकों का निग्रह इसको यथावत् करे। तब उस[पुरुष] का वेदान्ताभिहित मोक्ष हो सकता है, अन्यथा नहीं।' सत्यार्थ-प्रकाश, प्रथम संस्करण, वि० सं० १९३२(सन् १८७५),पृष्ठ १६८ ।। दिशादि देवता श्रोत्रादिकों के—दिशः श्रोत्राद्...... अकलपयन्। यजु० ३१।१३।।

उक्त श्लोक का अर्थ करते हुए कुल्लूक भट्ट ने अधियज्ञ अधिदैवत अध्यात्म और वेदान्ताभिहित ये चार भेद किये हैं। अध्यात्म=जीव-सम्बन्धी, वेदान्ताभिहित—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'वेदान्त=वेद का सिद्धान्त, उसमें कहा गया अधियज्ञ अधिदैव अध्यात्म' इस रूप में व्याख्या की है।

२. यज्ञों और याज्ञिक प्रक्रिया के विषय में प्रसङ्गवश यहां संक्षेप से लिखा गया है। इस विषय में जो अधिक जानना चाहें वे मेरे लिखे 'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा'(संस्कृत-हिन्दी) नामक ग्रन्थ में देखें।

अपनी दिव्य मानसिक शक्ति से इस चराचर जगत् के परमाणु से लेकर परममहत् तत्त्व पर्यन्त समस्त पदार्थों का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कर लेते थे। उनके लिये कोई भी पदार्थ अप्रत्यक्ष नहीं था। उत्तरोत्तर सत्त्वगुण की न्यूनता, एवं रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि के कारण काम क्रोध लोभ और मोह आदि उत्पन्न हुए। उनके वशीभूत होकर मानवी प्रजा ने सुख विशेष की इच्छा से प्राजापत्य शाश्वत नियमों का उल्लङ्घन करके कृत्रिम जीवनयापन करना प्रारम्भ किया। ज्यों-ज्यों आवश्यकताएं बढ़ती गईं, त्यों-त्यों जीवनयापन के साधनों में भी कृत्रिमता बढ़ने लगी। इसके साथ ही साथ मानव की मानसिक दिव्य शक्तियों का भी ह्रास होने लगा। उनके ह्रास के कारण सूक्ष्म, दूरस्थ और व्यवहित पदार्थ अज्ञेय बन गये। अतः ब्रह्माण्ड और पिण्ड (अध्यात्म=शरीर) की रचना कैसी है, यह जानना जटिल समस्या बन गई। इस कारण आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ भी दुरूह हो गया। ऐसे काल में तात्कालिक साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ ऋषियों ने ब्रह्माण्ड तथा अध्यात्म की रचना का ज्ञान कराने और तत्परक प्राचीन वेदार्थ को सुरक्षित करने कराने के लिए यज्ञरूपी नाटकों की कल्पना की। यज्ञ का प्रयोजन दैवत और अध्यात्म का ज्ञान कराना है, इस बात की ओर आचार्य यास्क ने निरुक्त १।१९ में संकेत किया है—याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा। तदनुसार यज्ञ और देवता का ज्ञान क्रमशः पुष्प और फल स्थानीय है, अर्थात् जैसे पुष्प फल की निष्पत्ति में कारण होता है, वैसे ही याज्ञिक प्रक्रिया का ज्ञान दैवत (=ब्रह्माण्ड) के ज्ञान में कारण होता है। जब दैवतज्ञान हो जाता है, तब वह याज्ञिकप्रक्रिया की दृष्टि से फलस्थानीय होता हुआ भी अध्यात्मज्ञान की दृष्टि से पुष्पस्थानीय होता है, अर्थात् अध्यात्म में दैवत-ज्ञान कारण बनता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए अनेक स्थानों में 'इत्यधियज्ञम्' कह कर 'अथाधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्' के निर्देश द्वारा तीनों की परस्पर समानता दर्शाई है। इसी प्रकार मीमांसाशास्त्र के भी तीन विभाग हैं। पूर्व-उत्तर-मीमांसा तो लोक में प्रसिद्ध हैं ही, परन्तु दोनों के मध्य में दैवत मीमांसा का भाग भी था, जो इस समय लुप्त-प्रायः है। तदनुसार १२ अध्याय जैमिनि प्रोक्त कर्ममीमांसा, ४ चार अध्याय दैवतमीमांसा[1] और अन्त के ४ चार अध्याय कृष्ण द्वैपायन व्यास प्रोक्त ब्रह्म-

---

१. दैवतमीमांसा के चार अध्यायों के प्रवक्ता के विषय में मतभेद है। कोई इन्हें काशकृत्स्न प्रोक्त मानता है, तो कोई जैमिनिप्रोक्त। देखो—हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १०८ (सं० २०३० वि०) तथा 'प्रपञ्चहृदय' पृष्ठ ३८, ३९।

मीमांसा के हैं। इस प्रकार २० बीस अध्यायात्मक मीमांसा शास्त्र में भी क्रमशः यज्ञ दैवत और ब्रह्म का विचार किया है। इन सब निर्देशों से व्यक्त है कि यज्ञों की कल्पना ब्रह्माण्ड और पिण्ड की सूक्ष्म रचना का ज्ञान कराने के लिये ही की गई है, अर्थात् भौगोलिक मानचित्रों के समान यज्ञ साधन मात्र हैं, साध्य नहीं।

यज्ञों की कल्पना का आधार

विराट् पुरुष (ब्रह्म) ने अपने सखा[1] शरीर पुरुष (जीव) के शरीर की रचना में अपने ही विराट् शरीर (ब्रह्माण्ड) की रचना का पूरा-पूरा अनुकरण किया है, अर्थात् यह मानव शरीर इस ब्रह्माण्ड की ही एक लघु प्रतिकृति है। परावरज्ञ ऋषियों ने अपनी दिव्य योगजशक्ति से इसी रचना-साम्य का अनुभव करके उसी के आधार पर दोनों के प्रतिनिधि रूप यज्ञों की कल्पना की। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस प्रकार भूमण्डल और नक्षत्रमण्डल के विभिन्न अवयवों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने के लिये उनके मानचित्रों की वा प्राचीन काल की किसी परोक्ष घटना का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने के लिए नाटक की कल्पना की जाती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना का ज्ञान कराने के लिए यज्ञों की कल्पना की गई, अर्थात् यज्ञों की कल्पना भी भूगोल आदि के मानचित्रों के समान सत्य वैज्ञानिक आधार पर की गई है। अतएव जिस प्रकार नगर, जिला, प्रान्त, देश और महादेश आदि के क्रम से भूगोल आदि का क्रमिक ज्ञान कराने के लिये विभिन्न छोटे बड़े प्रदेशों के मानचित्र तैयार किये जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की स्थूल, सूक्ष्म रचना का क्रमशः ज्ञान कराने के लिये अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि विभिन्न छोटे मोटे यज्ञों की कल्पना की गई। इसी कल्पना के कारण यज्ञों का एक नाम कल्प भी है—कल्पनात् कल्पः। अतएव यज्ञों के व्याख्यान[2] करनेवाले सूत्रग्रन्थ कल्पसूत्र कहाते हैं। यज्ञों की प्रकल्पना सृष्टियज्ञ का ज्ञान कराने के लिये हुई थी, इस बात को हृदयङ्गम कराने के लिये दोनों यज्ञों की कुछ तुलना उपस्थित करते हैं।

यज्ञों की अधिदैवत सृष्टियज्ञों से तुलना

द्रव्ययज्ञों और सृष्टियज्ञों की तुलना के लिये हम श्रौतयज्ञों के अग्न्याधान प्रकरण को उपस्थित करते हैं। अग्न्याधान की विधि संक्षेप में इस प्रकार है—

सबसे पूर्व वेदिनिर्माणार्थ यज्ञोपयोगी भूमि का निरीक्षण किया जाता है।

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया। ऋ० १।१६४।२०॥

२. यज्ञं व्याख्यास्यामः। का० श्रौ० १।२।१॥

तत्पश्चात् उस भूमि पर वेदि की रचना के लिये भूमि के ऊपर की कुछ मिट्टी खोदकर हटाई जाती है, जिससे अशुद्ध मिट्टी वा घास फूस की जड़ें निकल जायें। तत्पश्चात् उस स्थान में निम्न क्रियाएं[1] क्रमशः की जाती हैं—

१— जल का सिञ्चन किया जाता है। तत्पश्चात्

२— वराह-विहत (सूअर से खोदी गई) मिट्टी बिछाई जाती है। उसके पश्चात्

३—दीपक की बांबी की मिट्टी बिछाई जाती है। तत्पश्चात्

४—ऊसर भूमि की मिट्टी (रेह—पंजाबी में) फैलाई जाती है। तत्पश्चात्

५—सिकता (=बालू) बिछाई जाती है। तत्पश्चात्

६—शर्करा (=रोड़ी) बिछाते हैं। तत्पश्चात्

७—ईंटें बिछाई जाती हैं। तत्पश्चात्

८—सुवर्ण रखा जाता है। तत्पश्चात्

९—समिधाएं रखी जाती हैं। तत्पश्चात्

अश्वत्थ (=पीपल) की अरणियों (=दो काष्ठों) को मथकर (=रगड़ कर) अग्नि उत्पन्न करके समिधाओं पर धरते हैं।

अग्न्याधान में वेदि निर्माण की उक्त क्रियाएं की जाती हैं वे हिरण्यगर्भाख्य महदण्ड से पृथिव्यादि के पृथक् होने के समय पृथिवी की जो सलिलमयी स्थिति थी, उससे लेकर पृथिवी के पृष्ठ पर अग्नि की प्रथम उत्पत्ति तक पृथिवी की विविध परिवर्तित स्थितियों का बोध कराने के लिये हैं। क्योंकि वेद स्वयं कहता है—'इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः' (यजु० २३।६२)। शतपथ ब्राह्मण में नौ प्रकार का सर्ग (=सृष्टि) कहा है। यथा—

स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत। ······ स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूषं सिकतं शर्करा अश्मानम् अयोहिरण्यम् ओषधिवनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। शत० ६।१।१।१३॥

यहां जो नौ प्रकार की सृष्टि कही है। उनमें फेन के आपः-प्रधान होने से वेदि निर्माण प्रक्रिया में उसको सम्मिलित नहीं किया है। अब हम वैदिक ग्रन्थों के आधार

---

१. ये सामान्य आधान और अग्निचयन की सम्मिलित क्रियाएं हैं।

पर वेदि निर्माण और पृथिवी के विविध सर्गों का वर्णन करते हैं, जिससे हमारे उक्त विचार स्पष्ट हो जायेंगे।

१—आरम्भ में पृथिवी सलिलमयी थी। आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास (शतपथ ११।६।१।६)। इस स्थिति को दर्शाने के लिये वेदि के स्थान में जलसिंचन किया जाता है।

२— अग्नि के संयोग से सलिलों में फेन उत्पन्न हुआ जैसे दूध गरम करने पर उबाल के समय उत्पन्न होते हैं। वही फेन वायु के संयोग से घनत्व को प्राप्त होकर मृद्भाव को प्राप्त होता है। जैसे दूध की मलाई जमती है (पर दूध को ढक देने से वायु का संयोग न होने से मलाई नहीं जमती)। इसके लिये शतपथ ६।१।३।३ में कहा है—स (फेनः) यदोपहन्यते मृदेव भवति। इस मृद् की उत्पत्ति में सूर्य की किरणों का विशेष महत्त्व होता है। ये सूर्य की आङ्गिरस नामक किरणें वराह भी कहाती हैं।[1] उस समय पृथिवी का रूप वराह के मुख के सदृश छोटा सा होता है। अत एव वेदि निर्माण में वराह (सूअर) द्वारा खोदी गई बारीक मिट्टी बिछाई जाती है। इसलिये मैत्रायणी संहिता १।६।३ में कहा है—'यावद् वै वराहस्य चषालं तावतीयमग्र आसीत्। यद् वराहविहतमुपास्याग्निमाधत्ते।'

३—जब वही मृत् सूर्य की किरणों से सूख जाती है, तब उसे शुष्काप (=सूख गये हैं जल जिसके) कहते हैं। उसके नीचे जल होता है। यह सूखी हुई पपड़ी रूपी मृत् मसलने पर भुरभुरी हो जाती है। इसी शुष्काप रूप अवस्था का बोध कराने के लिये दीमक की बाम्बी की मिट्टी बिछाई जाती है। दीमक पृथिवी के अन्दर से गीली मिट्टी लाती है[2] और हवा तथा धूप से सूख जाने पर मलने में भुरभुरी होती है। इसीलिये मैत्रायणी संहिता १।६।३ में कहा है—'यद् वल्मीकवपा-मुत्कीर्याग्निमाधत्ते'।

---

१. पुराणों में अनुश्रुति है कि विष्णु ने वराह का रूप धारण करके जल से पृथिवी को निकाला। वेद में विष्णु सूर्य का नाम है, उसकी अङ्गिरस नामक किरणें वराह हैं। इन्हें जाति रूप एकवचन में एमूष वराह भी कहते हैं। शतपथ १४।१।२।११ में कहा है—तामेमूष इति वराह उज्जघान।

इस एमूष वराह का वर्णन ऋग्वेद में (८।७७।१०) भी आता है। एमूष का अर्थ है—आ=सब ओर से, ईम्=जलों को (=ईम् उदकनाम, निघण्टु १।१२) ऊष=तपानेवाला।

२. दीमक की बाम्बी के नीचे जल अवश्य होता है। इसीलिये राजस्थान में जलगवेषक दीमक की बाम्बी के स्थान में कुंआ खोदने को कहते हैं।

४ वही शुष्काप सूर्य की किरणों से तपकर ऊष भाव (क्षारत्व) को प्राप्त होते हैं। इसलिये वेदि में ऊसर भूमि की मिट्टी 'रेह' बिछाई जाती है। मैत्रायणी संहिता १।६।३ में कहा है—'यदूषानुपकीर्याग्निमाधत्ते'।

५—वही ऊष=क्षार मिट्टी पुनः सूर्य किरणों से तथा पृथिवीगर्भस्थ अग्नि से तप्त होकर सिकता=बालू का रूप धारण करती है[1]। इसीलिये वेदी में भी सिकता बिछाई जाती है—'यत्सिकतामुपकीर्याग्निमाधत्ते' (मै० सं० १।६।३)।

६—यही अन्तःस्थित सिकता भूगर्भस्थ अग्नि से तपकर शर्करा=रोड़ी[2] बन जाती है। इस अन्तः परिवर्तन का बोध कराने के लिये वेदि में शर्करा=रोड़ी बिछाई जाती है। इसीलिये मै० सं० १।६।३ में कहा है—'यच्छर्करा उपकीर्याग्निमाधत्ते'।

पृथिवी गर्भ में शर्करा की उत्पत्ति से भूमि में दृढ़त्व आता है। इस तथ्य को वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार दर्शाया है—'शिथिरा वा इयमग्र आसीत्। तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत' (मै० सं० १।६।३)।

इसी क[3]=अग्निरूप प्रजापति के कर्म का वर्णन ऋग्वेद १०।१२१।५ में किया है 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'।

७—यही शर्करा अन्तस्ताप से तप्त होकर पाषाणरूप को धारण करती है। इसलिये चयन संज्ञक याग में वेदि में पाषाण के स्थान में प्रतिनिधिरूप ईंटें[4] बिछाई जाती हैं। तैत्तिरीय संहिता ५।२।८ में कहा है—'इष्टका उपदधाति'।

८—यही पाषाण भूगर्भस्थ अग्नि से तप्त होकर लोह से सुवर्ण पर्यन्त धातुरूप

---

१. सिकता पृथिवी के ऊपर भी उपलब्ध होती है, जैसे राजस्थान में। और पृथिवी के अन्दर भी बनती है। आज भी कच्चे पहाड़ों में उपलब्ध कच्चे पत्थरों को मसलने पर बालू के कण पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।

२. छोटे-छोटे पत्थर।

३. ब्रह्माण्ड में यह 'क' अग्निरूप प्रजापति है। शरीर में 'क' अग्निरूप जीवात्मा प्रजापति है।

४. नियत श्येन आकारवाली वेदी में विभिन्न आकारवाली ईंटे बिछाई जाती हैं। विभिन्न इष्ट आकारों में पत्थरों को घड़ना कष्ट-साध्य है। इसलिये यहां प्रतिनिधि रूप में ईंटे बिछाने का निर्देश किया गया है।

में परिणत होता है।[1] इसी धातूत्पत्ति कालिक पृथ्वी की स्थिति का वर्णन करने के लिये चयन याग में कहा है—'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्'।[2] तथा 'रुक्ममुपदधाति' (मै० सं० ३।२।६)।

६—पृथिवी-गर्भ में अयोहिरण्य पर्यन्त निर्माण हो जाने तक पृथिवी कूर्म पृष्ठ (कछुए की पीठ) के समान लोम रहित थी। उसके पीछे पृथिवी पर ओषधि वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई। पृथिवी की इस स्थिति को बताने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है—

'इयं वाऽलोमिकेवाग्र आसीत्'। ऐ० ब्रा० २४।२२॥
'ओषधिवनस्पतयो वा लोमानि'। जै० ब्रा० २।५४॥

इसीलिये वेदि में हिरण्य रखकर समिधाएं अथवा तत्स्थानीय आरण्य उपले (= कण्डे) रखे जाते हैं।

वनस्पति रूप बड़े-बड़े वृक्षों के उत्पन्न होने पर वायु के वेग से वृक्ष शाखाओं की रगड़ से पृथिवी पर सबसे प्रथम अग्नि की उत्पत्ति हुई।[3] अतएव वेद में कहा है—तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे (यजु० ३।५)।

पृथिवी के पृष्ठ पर प्रथम अग्नि के प्रादुर्भाव का बोधन कराने के लिये वेदि में जिस अग्नि का आधान किया जाता है, उसे पीपल के काष्ठ से निर्मित अरणियों को मथकर ही उत्पन्न किया जाता है।

पूर्व संख्या ३ में शुष्काप रूप जिस पार्थिव स्थिति का वर्णन किया है, उस समय पार्थिव भाग जल पर वायु के वेग से पुष्करपर्ण (= कमल के पत्ते) के समान इधर-उधर डोलता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है—'सा हेयं पृथिव्यलेलायत यथा पुष्करपर्णम्' (शत० २।१।१।८)। इसी का वर्णन वायुरूपी इन्द्र के कर्म के रूप में किया है—'हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा' (ऋ० १०।११९।९) अर्थात् इन्द्र = वायु कहता है कि मैं इतना बलशाली हूं कि मैं जहां चाहूं इस पृथिवी को रख दूं।

---

१. द्र०—'अश्मनो लोहसमुत्थितम्'। महा० उद्योग०। रसार्णव तन्त्र ८।९९ में लोहसङ्करज सुवर्ण का वर्णन मिलता है।

२. शाबर भाष्य १।२।१८ में उद्धृत श्रुति।

३. महावनों में वृक्ष-शाखाओं की रगड़ से दावाग्नि की उत्पत्ति प्रायः होती रहती है।

इस पुष्करपर्णवत् स्थिति का निदर्शन चयन याग में पुष्करपर्ण को रखकर कराया है—'तस्मिन् पुष्करपर्णम् अपां पृष्ठम् इति' (का० श्रौत १६।२।२५)। मत्स्य पुराण (१६८।१६ 'मोर' संस्क०) में इस विषय में लिखा है—

एतस्मात् कारणात् तज्ज्ञैः पुराणैः परमर्षिभिः।
यज्ञियैर्वेददृष्टान्तैर्यज्ञे पद्मविधिः स्मृतः॥

अर्थात्—इसी कारण प्राचीन ऋषियों ने यज्ञ सम्बन्धी वेद के दृष्टान्त से यज्ञ में पद्म-विधि का विधान किया है।

निरुक्तकार यास्क ने भी सृष्टियज्ञ का अनुकरण श्रौत यज्ञों में माना है। वे लिखते हैं—

अथासावादित्यः (वैश्वानरः) इति पूर्वे याज्ञिकाः। एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः। रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः। तामनुकृतिं होताग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते' (निरुक्त ७।२३)।

अर्थात्—प्राचीन याज्ञिक आदित्य को वैश्वानर मानते थे। इन [पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यु] लोकों के आरोह (=चढ़ने) के द्वारा प्रातः-सवन माध्यन्दिन-सवन और तृतीय सवन का आरोह कहा गया है, अर्थात् प्रातः-सवन में यजमान पृथिवी-स्थानीय होता है, माध्यन्दिन-सवन में अन्तरिक्षस्थानीय एवं तृतीय सवन में द्युस्थानीय हो जाता है। द्युलोक में पहुंचे हुए यजमान को यज्ञ की समाप्ति से पूर्व पृथिवी पर लाना आवश्यक है। वापस उतार की अनुकृति (=अनुकरण) को होता वैश्वानरीय आदित्य-देवताक सूक्त से आरम्भ करता है।

वेदि-निर्माण, अग्न्याधान पुष्करपर्ण-निधान और सवनों के आरोहादि के अनुकरण के द्वारा सृष्टियज्ञ से जो तुलना ब्राह्मणादि ग्रन्थों में दर्शाई है, उससे स्पष्ट है कि श्रौतयज्ञ सृष्टियज्ञ के ही रूपक हैं। और सृष्टियज्ञ अर्थात् आधिदैविक जगत् का अध्यात्म के साथ सम्बन्ध है। आधिदैविक जगत् के ज्ञान से अध्यात्म का अर्थात् शारीरयज्ञ का परिज्ञान होता है। इसीलिये निरुक्तकार यास्क ने देवताऽध्यात्मे वा [पुष्पफले] (निरुक्त १।१९) कहकर अधिदैविक ज्ञान को अध्यात्म ज्ञान में कारण बताया है। यही अभिप्राय लोक-प्रसिद्ध यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे लोकोक्ति से भी प्रकट होता है।

यद्यपि इस प्रकार के वैज्ञानिक आधार पर प्रकल्पित श्रौत यज्ञों की समस्त क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ क्या सादृश्य है, इसका साक्षात् विस्तृत उल्लेख वर्तमान में उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में नहीं

मिलता, तथापि ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक क्रियाओं तथा तद्गत पदार्थों के निर्देश के साथ-साथ यत्र-तत्र उल्लिखित 'इत्यधिदैवतम्' तथा 'इत्यध्यात्मम्' आदि निर्देशों से उक्त सादृश्य का अनुमान बड़ी सरलता से किया जा सकता है। सौभाग्यवश दर्श-पौर्णमास की सभी मुख्य-मुख्य क्रियाओं और पदार्थों की आधिदैविक अथा आध्यात्मिक जगत् के साथ दर्शाई गई तुलना शतपथ ब्राह्मण (११।२।४।१ से ११।२।७।३३ तक) में सुरक्षित है। उसके अनुशीलन से भी ऊपर दर्शाई गई यज्ञों की कल्पना के मूलभूत आधार का ज्ञान भले प्रकार हो जाता है।

उपर्युक्त साम्यता के आधार पर प्रारम्भ में जब यज्ञों की कल्पना की गई उस समय यज्ञ की प्रत्येक क्रिया और पदार्थ आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं और पदार्थों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते थे। इसी नियम पर प्रारम्भ में प्रकल्पित अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि यज्ञों में उत्तरोत्तर बहुत कुछ परिवर्तन होने पर आज भी इनकी क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं और पदार्थों से अत्यधिक सादृश्य उपलब्ध होता है।

यज्ञों के प्रादुर्भाव का काल

भारतीय इतिहास के अनुसार सर्ग के आरम्भ में मानवों को वैदिक ज्ञान की उपलब्धि हो जाने पर भी जैसे वेदों में वर्णित वर्णाश्रम-व्यवस्था राज्य-व्यवस्था आदि व्यवहारों का प्रचलन सर्ग के आरम्भ में ही नहीं हुआ था, तद्वत् ही द्रव्यमय यज्ञों का भी प्रचलन नहीं हुआ था। क्योंकि उस समय सभी मानव सत्त्वगुण सम्पन्न साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ परममेधावी थे।[1] महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों के अनुसार उस समय सारा जगत् ब्राह्ममय था।[2] यज्ञों के विषय में शांखायन आरण्यक (४।५, पृष्ठ १५) में स्पष्ट लिखा है—

'तद्ध स्मैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं च जुह्वांचक्रुः।'

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अनेकत्र 'य उ चैनं वेद' कह कर यज्ञ करने और उसको तत्त्वतः जानने का समान फल दर्शाया है। यही बात स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी वि० सं० १९३२ में प्रकाशित संस्कार-विधि (प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११८) के गृहस्थाश्रम प्रकरण में लिखी है—'उपासना अर्थात् योगाभ्यास करनेवाला, ज्ञानी=सब पदार्थों का जाननेवाला, ये दोनों होमादि बाह्य क्रिया न करें।'

यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उक्त बात

---

१. द्रष्टव्य—पृष्ठ ७२, टि० १; पृष्ठ ७४, टि० १, ३, ४।

२. सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। महा० शान्ति० १८८।१०॥

गृहस्थाश्रम प्रकरण में लिखी है। संन्यासी अर्थात् ज्ञानी को बाह्य होमादि न करने का जो विधान सभी शास्त्रों में विद्यमान है, उसका भी मूल कारण यही है।

अन्य सभी सामाजिक व्यवस्थाओं के समान याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रादुर्भाव कृतयुग और त्रेता युग के सन्धि काल में हुआ। इसीलिये कहीं पर यज्ञों की उत्पत्ति कृतयुग के अन्त में, और कहीं त्रेता युग के आरम्भ में कही है।[1] प्रारम्भ में केवल एकाग्निसाध्य यजुर्वेदमात्र से सम्पन्न होनेवाले अग्निहोत्रादि होमों का ही प्रचलन हुआ। तदनन्तर महाराज पुरुरवा ऐल के काल में त्रेताग्निसाध्य (=तीन अग्नियों में किये जानेवाले) दो वेदों (=यजुः ऋक्) से किये जानेवाले दर्शपौर्णमासादि, तथा तीन वेदों (=यजुः ऋक् साम) से किये जानेवाले ज्योतिष्टोमादि[2] यज्ञों की, और तत्पश्चात् पञ्चाग्निसाध्य विविध क्रियाकलाप की प्रकल्पना हुई।

---

१. 'इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः।
अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन्न तदन्यथा॥' महा० शान्ति० ३४०।८२॥
इस श्लोक में कृतयुग में यज्ञों की विद्यमानता कही है।
'त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।' महा० शान्ति० २३८।१४॥
'त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे।' महा० शान्ति० २३२।३२॥
'यथा त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम्।' वायु० ५७।८६॥
'तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि।' मुण्डक उप० १।२।१॥
इत्यादि की पारस्परिक सङ्गति से उपर्युक्त परिणाम ही निकलता है।
मत्स्य पुराण १४३।४२ में स्वायम्भुव मन्वन्तर में यज्ञ-प्रवर्तन का उल्लेख मिलता है—'यज्ञप्रवर्तनमेवासीत् स्वायम्भुवेऽन्तरे।'

यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि मनु के जलप्लावन के पीछे पुरानी परम्परा को सुरक्षित रखने के लिये जो मन्वन्तरादि की कल्पना की गई, उसके अनुसार कृतयुग में स्वायम्भुव मन्वन्तर समाप्त होता है, और त्रेता से वैवस्वत मन्वन्तर आरम्भ होता है। द्रष्टव्य—भरत नाट्य शास्त्र १।८॥ महाभारत शान्तिपर्व ३४८।५१ में भी लिखा है—'त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ।' यह मनु वैवस्वत मनु ही है। इस सारी भारतीय ऐतिहासिक कालगणना को समझना सम्प्रति अत्यन्त कठिन है। हमारा भारतीय ऐतिहासिक काल-गणना पर ग्रन्थ लिखने का विचार है। उसमें यथासम्भव इस काल-गणना का स्पष्टीकरण करेंगे।

२. 'यजुषा ह वै देवा अग्रे यज्ञं वितेनिरे। अथर्चाऽथ साम्ना तदिदमप्येतर्हि

प्रारम्भिक यज्ञ

यतः प्रारम्भ में यज्ञों की कल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टि से वैज्ञानिक आधार पर की गई थी, अतः प्रारम्भ में कल्पित यज्ञों का आधिदैविक जगत् के साथ साक्षात् सम्बन्ध था। यथा अग्निहोत्र का अहोरात्र के साथ, दर्शपौर्णमास का कृष्ण-पक्ष और शुक्लपक्ष के साथ, तथा चातुर्मास्य का तीनों ऋतुओं के साथ। अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमास की आधिदैविक व्याख्या शतपथ के ११वें काण्ड में मिलती है। चातुर्मास्य के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है—

'भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते।' कौषीतकि ब्रा० ५।१॥

इसी प्रकार गोपथ उत्तरार्ध १।१९ में भी कहा है।

महाभारत शान्तिपर्व २६९।२० में अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य इन तीन यज्ञों को ही प्राचीन यज्ञ कहा है। यथा—

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः॥

प्रारम्भिक यज्ञों की सादगी तथा सात्त्विकता

प्रारम्भ में जिन यज्ञों की कल्पना की गई वे यज्ञ अत्यन्त सादे तथा सात्त्विक थे। उनमें बाह्य आडम्बर (=दिखावा) तथा मांस मदिरा आदि तामसिक पदार्थों

यजुषा एवाग्रे यज्ञमतन्वत, अथर्चाऽथ साम्ना।' शतपथ ४।६।७।१३॥

'अङ्गिरसां वा एकोऽग्निः।' ऐ० ब्रा० ६।२४॥

तुलना करो—'गन्धर्वेभ्यो वरं लब्ध्वा त्रेताग्निं समकल्पयत्।
एकोऽग्निः पूर्वमासीद् ऐलस्त्रेतामकल्पयत्॥'
हरिवंश १।१२६।४७॥

'......त्रेतायां स महारथः (ऐलः)।
एकोऽग्निः पूर्वमासीद्धै ऐलस्त्रींस्तानकल्पयत्॥' वायु पु० ९१।४८॥

'गन्धर्वेभ्यो वरं लब्ध्वा'—क्या ये गन्धर्व 'गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु' याजुष मन्त्र (२।३) में उक्त दैवी शक्तियां हैं? वायु पुराण अ० ९१, श्लोक ४८ से ५१ भी द्रष्टव्य हैं।

तीन अग्नियों के नाम शतपथ १।३।३।१७ में इस प्रकार लिखे हैं—'एतानि वै तेषां नामानि—यद् भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिः।'

का किञ्चिन्मात्र सम्बन्ध नहीं था। इसके लिये हम केवल दो प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—'यज्ञो हि वा अनः। तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति, न कोष्ठस्य, न कुम्भ्यै। भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति। तद्वृषीन् प्रति भस्त्रायै यजूंष्यासुः। तान्येतर्हि प्राकृतानि।' शत० १।१।२।७॥

अर्थात्—शकट (गाड़ी) से ही हवि का ग्रहण करे। शकट ही यज्ञ है। इसलिये हविग्रहण के याजुष मन्त्र शकट सम्बन्धी ही हैं। कोष्ठ (अन्न रखने का कोठा=कुसूल) या भस्त्रा (चमड़े की थैली, जैसी आटा आदि रखने के लिये पहाड़ी वर्तते हैं) सम्बन्धी नहीं हैं। पुराने ऋषि भस्त्रा से हवि का ग्रहण करते थे। उन ऋषियों के लिये ये ही हविग्रहण के याजुष मन्त्र भस्त्रा-सम्बन्धी थे। इसलिये ये याजुष मन्त्र सामान्य हैं (कहीं पर भी इनका विनियोग हो सकता है)।

इस उद्धरण से दो बातें स्पष्ट हैं। एक—याज्ञिक क्रियाओं में उत्तरोत्तर परिवर्तन हुआ है। निरुक्त ७।२३ में भी—"असावादित्यः (वैश्वानरः) इति पूर्वे याज्ञिकाः" लिखकर अगले खण्ड (२४) में पूर्वयाज्ञिकों की क्रिया का उल्लेख किया है। यहां 'पूर्व' विशेषण से स्पष्ट है कि निरुक्त में दर्शाई याज्ञिक क्रिया यास्क के समय उस रूप में नहीं होती थी। द्वितीय—पुराकाल में यज्ञों में बाह्याडम्बर नहीं था, उत्तरोत्तर उस आडम्बर में वृद्धि हुई।

पौर्णमासेष्टि में तीन प्रधानाहुतियों के लिये केवल १२ मुठी जौ या व्रीहि(धान) की आवश्यकता होती है।[1] इतने थोड़े से अन्न के लिये यज्ञस्थान में गाड़ी भरकर अन्न लाने का क्या प्रयोजन? इसे बाह्य आडम्बर (अपनी सम्पन्नता का दिखावा) ही तो कहा जायेगा। इसीलिये प्राचीन ऋषि अपनी अनाज रखने की चमड़े की थैली अथवा घड़े से ही हविग्रहण करते थे। उत्तरकालीन याज्ञिक शकट से हविग्रहण का प्रयोजन केवल अदृष्ट की उत्पत्ति समझकर एक वितस्ति (बिलांत) भर प्रमाण की गाड़ी बनाकर उससे हविर्द्रव्य का स्पर्शमात्र करके कार्य चलाने लगे। इसी प्रकार सोमयाग के समय सम्पन्न किये जानेवाले हविर्धान मण्डप का निर्माण पहले ही कर लेते हैं। याग काल में उसका स्पर्शमात्र करके कार्य चलाते हैं।[2]

---

१. प्रत्येक आहुति के लिये चतुर्मुष्टि अन्न की आवश्यकता होती है—'चतुरो मुष्टीन् निर्वपति।'

२. 'अद्यत्वे तु पूर्वकृतस्य मण्डपस्य यागकाले स्पर्शमात्रं क्रियते।'

का० श्रौ० ८।३।२४ टीका।

१—"आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागे-क्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षण-मापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामभावाद् गवालम्भः प्रवर्तितः ... .. अतिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।" चरक चिकित्सा० १९।४॥

अर्थात् आदि काल (कृतयुग के अन्तिम चरण)[1] में यज्ञों में पशु इकट्ठे किये जाते थे, मारे नहीं जाते थे।[2] उसके पश्चात् दक्षयज्ञ के अनन्तर (त्रेता के प्रारम्भ में) मनु के नरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु, शर्याति आदि पुत्रों के यज्ञों में "वेदों में पशु मारने का आदेश है" ऐसा मानकर पशुओं का प्रोक्षण (तथा आलम्भ) प्रारम्भ हुआ।[3] उसके अनन्तर दीर्घकालीन यज्ञ करते हुए पृषध्र (नहुष[4]) ने पशुओं की

---

१. तुलना करो—'इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः। अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन् न तदन्यथा॥' महा० शान्ति० ३४०।८२॥

२. इस पर टिप्पणी परिशिष्ट में देखें।

३. तुलना करो—ततस्त्रेतायुगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति।
प्रोक्षिता यत्र पशवो वधं प्राप्स्यन्ति वै मखे॥
महा० शान्ति० ३४०।८३, ८४॥

४. एक 'पृषध्र' मनु का पुत्र नाभाग इक्ष्वाकु आदि का भाई था। चरक वर्णित पृषध्र उससे अर्वाचीन है, यह चरक के इसी वचन से स्पष्ट है। महाभारत शान्ति पर्व अ० २६८, श्लोक ६ में नहुष को प्रथम गवालम्भ-प्रवर्तयिता लिखा है 'नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम्।' महाभारत शान्तिपर्व अ० २६२, श्लोक ४७ के नीलकण्ठ टीकाकार द्वारा उद्धृत पाठान्तर—'महच्चकाराकुशलं पृषध्रो गां लभन्निव' का अगले ४८-५० श्लोकों के साथ सम्बन्ध जोड़ने से पृषध्र नहुष का ही नामान्तर प्रतीत होता है। (नीलकण्ठ की टीका अशुद्ध है)। वायु पुराण ८६।११ में मानव पृषध्र को गोहिंसक कहा है। वह ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि मानव पृषध्र तो नाभाग और इक्ष्वाकु का समकालिक था। चरक में पृषध्र को नाभाग इक्ष्वाकु आदि से अवरकालिक लिखा है। वायु पुराण में नामैक्य से भ्रम हुआ होगा। नहुष नाम के दो राजा हैं। एक चन्द्रवंश में, दूसरा सूर्यवंश में (वाल्मीकीय रामायणानुसार)। महाभारत में 'नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम्' (शान्ति० २६८।६) श्लोक में श्रुत 'त्वष्टा' द्वादश आदित्यों में एकतम है। अतः उसके साथ स्तुत नहुष चन्द्रवंश

न्यूनता के कारण यज्ञ में गौ का आलम्भ (वध) प्रारम्भ[1] किया।... उससे पृषध्र के यज्ञ में सर्व प्रथम अतिसार[2] की उत्पत्ति हुई।

चरक-संहिता के वचन में पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् (=पशुओं को मारने की आज्ञा है ऐसा जानकर) जिस कारण का निर्देश किया है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। ऐसा ही संकेत महाभारत शान्तिपर्व (२६३।६) में मिलता है—

'लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः संप्रवर्तितम्।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम्॥'

इस वचन में लोभी धनैषणावाले नास्तिकों द्वारा वेदवाद (वेद के कथन) को न जानकर पशुहिंसा प्रवर्तन का उल्लेख किया है। ब्राह्मण धम्मिय सुत्त १८, १६ में भोगों से लुब्ध ब्राह्मणों द्वारा झूठे मन्त्र बनाकर इक्ष्वाकु[3] के पास जाकर यज्ञ कराने का उल्लेख है। इसी सुत्त के २७ २८ श्लोक में इक्ष्वाकु द्वारा गवालम्भ प्रवर्तन, और उससे ६८ रोगों की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। ब्राह्मण धम्मिय सुत्त के भाष्य अट्ठकथा में भी झूठे मन्त्र बनाकर इक्ष्वाकु के पास जाकर पशु-यज्ञ करने के लिये प्रेरित करने का निर्देश है।

अति पुरातन काल में यज्ञों में पश्वालम्भ नहीं होता था। इसका उल्लेख महा-

---

का नहुष (पुरुरवा का पौत्र) ही है, यह निश्चित है। सूर्यवंश का नहुष बहुत उत्तर-कालीन है। वह त्वष्टा का समकालिक नहीं हो सकता।

१. महाभारत शान्ति पर्व अ० २६२, श्लोक ४६ में नहुष द्वारा प्रवर्तित गवा-लम्भ से ६८ नये रोगों की उत्पत्ति का उल्लेख है। उससे भी हमारे पूर्वलिखित पृषध्र नहुष का पर्याय है' मत की पुष्टि होती है।

२. महाभारत शान्तिपर्व अ० २६२ ४६ में नहुष द्वारा प्रवर्तित गवालम्भ से ६८ नये रोगों की उत्पत्ति कही है। वसिष्ठ धर्मसूत्र (२१।१३) में लिखा है—

त्रय एव पुरा रोगा ईर्ष्या अनशनं जरा।
पृषध्रस्तनयं (? स्त्वघ्नियां) हत्वा अष्टानवतिमा हरेत् (?महारत्)॥

ब्राह्मण धम्मिय सुत्त २८ में भी यही तत्त्व निर्दिष्ट है—

तयो रोगा पुरे आसुं इच्छा अनशनं जरा।
पसूनं च समारम्भा अट्ठना कुतिमागमुं॥

३. ते तत्थ मन्ते गन्थेत्वा ओक्कासं तदुपागमुं।
पहूत धन धञ्ञोऽसि यजस्सु बहु ते धनम्॥

यहां ओक्कास=इक्ष्वाकु का निर्देश किया है। यह हमें चिन्त्य प्रतीत होता है।

भारत तथा पुराणों में वर्णित उपरिचर बसु की कथा में भी मिलता है।[1]

याज्ञिक-प्रक्रिया में परिवर्तन तथा नये-नये यज्ञों की कल्पना

संसार का नियम है कि जिस विषय में जन साधारण की रुचि अधिक हो जाती है, व्यवहारकुशल समझे जानेवाले व्यक्ति उस जनरुचि का सदा अनुचित लाभ उठाया करते हैं। उनकी सदा यही चेष्टा रहती है कि जनसाधारण की वह रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाये, जिससे उनका काम बनता रहे। इसी नियम के अनुसार जब जन-साधारण की रुचि यज्ञों के प्रति बढ़ने लगी, तब लोभ आदि के वशीभूत[2] होकर याज्ञिक लोगों ने भी यज्ञों की रोचकता बढ़ाने के लिये उनमें उत्तरोत्तर बाह्य आडम्बर की वृद्धि की, और शुभ या अशुभ प्रत्येक अवसर पर करने योग्य विविध नये-नये यज्ञ होम आदि की सृष्टि की। इस प्रकार यज्ञों में उत्तरोत्तर सादगी और सात्त्विकता की हानि, तथा बाह्याडम्बर की वृद्धि हुई। नये यज्ञों की कल्पना से अन्त में याज्ञिक कल्पना की प्रारम्भिक वैज्ञानिक दृष्टि आखों से सर्वथा ओझल हो गई। अतः इस काल में कल्पित अधिकांश यज्ञों की क्रियाओं तथा पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा। हमारे विचार में प्रायः समस्त काम्येष्टियां इसी कोटि की हैं।

याज्ञिक प्रक्रिया और वेदार्थ

भारतीय इतिहास से स्पष्ट है कि वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि अर्थात् कृतयुग के प्रारम्भ में हुआ। और यज्ञों की कल्पना का उदय कृतयुग और त्रेतायुग के सन्धिकाल में हुआ। यज्ञों की कल्पना से पूर्व वेद का अर्थ किस प्रकार सर्वविद्या-विषयक किया जाता था, उसका किस प्रकार उत्तरोत्तर ह्रास हुआ, तथा यज्ञों की कल्पना क्यों और कब हुई, इनका संक्षिप्त वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं। अब हम इस बात पर प्रकाश डालेंगे कि वेद का यज्ञों के साथ सम्बन्ध कैसे हुआ ?

जब प्रारम्भ में आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साम्य के आधार पर यज्ञों की कल्पना की गई, तब आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं तथा

---

१. महा० शान्ति० अ० ३३७, अनु० ६।३४; ११६।५६-५८ तथा वायु पुराण अ० ५७, श्लोक ९१-१२५॥

२. तुलना करो—'लोभाद् वास आदित्समाना औदम्बरीं कृत्स्नां वेष्टितवन्तः।' शाबरभाष्य मीमांसा १।३।४॥

द्रष्टव्य—इसी पृष्ठ पर उद्धृत महाभारत शान्तिपर्व २६३।६ का वचन, तथा टि० १ का ब्राह्मण धम्मिय सुत्त १८-१९ श्लोक।

पदार्थों का वर्णन करनेवाले वेदमन्त्रों का अभिप्राय समझाने के लिये उन-उन मन्त्रों का सम्बन्ध यज्ञों की तत्तत् क्रियाओं के साथ किया गया। जिस प्रकार नाटक करने वाले व्यक्ति किसी पूर्वकालीन ऐतिहासिक घटना का प्रदर्शन करते हुए उन-उन ऐतिहासिक व्यक्तियों के मध्य हुए संवाद का अनुकरण करते हैं, उस संवाद के साथ उन नटों का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता, ठीक इसी प्रकार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् का वर्णन करनेवाले वेदमन्त्रों का उन-उन की प्रतिनिधिभूत याज्ञिक क्रियाओं तथा पदार्थों के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। दूसरे शब्दों में, याज्ञिकप्रक्रियानुसार किया गया वेदार्थ वेद का मुख्य अर्थ नहीं है। वह तो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक वेदार्थ को समझाने का निमित्तमात्र है।

यज्ञों के आरम्भिक काल में याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ की यही स्थिति थी। इसलिये उस समय याज्ञिक क्रियाकलापों में वे ही मन्त्र विनियुक्त किये जाते थे, जो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ के साथ-साथ उनके प्रतिनिधिरूप याज्ञिक क्रियाओं का भी शब्दशः वर्णन करने में समर्थ थे।[१] उत्तरकाल में जैसे-जैसे यज्ञों की प्रधानता होती गई, वैसे-वैसे वेद का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी मुख्यार्थ गौण बनता गया और याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की प्रधानता बढ़ती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि सारा वेदार्थ याज्ञिक प्रक्रिया तक ही सीमित हो गया। अर्थात् "यज्ञार्थं वेदाः प्रवृत्ताः"[२] का वाद प्रवृत्त हो गया। और इसकी अन्त्य परिणति मन्त्रानर्थक्यवाद[३] में हुई।

काल्पनिक विनियोग

उत्तरकाल में जब देश में यज्ञों का मान तथा प्रभाव बढ़ा, और प्रत्येक कामना की सिद्धि के लिए यज्ञों की सृष्टि हुई, तब उन समस्त यज्ञों की विविध क्रियाओं के अनुरूप वेदमन्त्र उपलब्ध न होने पर मन्त्रार्थ की उपेक्षा करके याज्ञिक क्रियाओं के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ना अर्थात् मन्त्रार्थ के

१. 'एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति।' गोपथ २।२।६॥ तुलना करो—ऐ० ब्रा० १।४॥

२. 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः' (वेदाङ्गज्योतिष के अन्त में)॥
'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् ··· ···।' मीमांसा १।२।१॥

३. इस वाद के विषय में हम आगे लिखेंगे।

विपरीत विनियोग का आरम्भ हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में इस प्रकार के अनेक काल्पनिक विनियोग उपलब्ध होते हैं। यथा—

मैत्रायणी संहिता ३।२।४ में लिखा है—

'निवेशनः सङ्गमनो वसूनाम् इत्यैन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते।'

अर्थात् अग्निचयन में 'निवेशनः सङ्गमनो वसूनाम्' (मै० सं० २।७।१२ (१५१) इस इन्द्रदेवतावाली ऋचा से गार्हपत्याग्नि का उपस्थान करे।[1]

याज्ञिकों के मत में जब इन्द्र से विशेषण-विशिष्ट महेन्द्र, वृत्रहा इन्द्र, पुरन्दर इन्द्र आदि भी भिन्न-भिन्न देवता हैं[2], तब इन्द्र और अग्नि के भिन्न-भिन्न देवता होने में कोई सन्देह ही नहीं रहता। ऐसी अवस्था में इन्द्र देवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान भला अभिधावृत्ति से कैसे हो सकता है ?[3] यहां निश्चय ही इन्द्र शब्द के मुख्यार्थ का त्याग करके गौणी कल्पना करनी पड़ेगी।[4] इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के विनियोग 'यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति' रूपी विनियोग

---

१. मीमांसा ३।३।१४ के समस्त व्याख्याग्रन्थों में श्रुति और लिङ्ग के विप्रतिषेध में 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' वचन उद्धृत है। और ऐन्द्री ऋचा से अभिप्राय 'कदाचन स्तरीरसि' (ऋ० ८।५१।७) मन्त्र से है, यह व्यक्त किया है। 'कदाचन स्तरीरसि' इस ऐन्द्र मन्त्र से गार्हपत्य का उपस्थान करना चाहिये, ऐसा साक्षात् वचन हमें उपलब्ध संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं नहीं मिला। तैत्तिरीय संहिता १।५।६ के सायणभाष्य में यह मन्त्र आहवनीयाग्नि के उपस्थान में विनियुक्त है। तैत्तिरीय संहिता के इस अनुवाक में निर्दिष्ट मन्त्रों के विनियोग के विषय में सायण और भट्टभास्कर में पर्याप्त मतभेद है, वह भी द्रष्टव्य है।

२. तुलना करो—'तस्माद् देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः।' शाबरभाष्य मीमांसा २।१।१६॥ 'अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायांहोमुचे।' निरुक्त ७।१३॥

३. द्र०—वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् (मीमांसा ३।२।३)।

४. मीमांसा ३।२।४ सूत्रस्थ शाबरभाष्य में इसी वचन पर विचार करते हुए लिखा है—'गुणसंयोगाद् गौणमिदमभिधानं भविष्यति। भवति हि गुणादप्यभिधानम्। यथा सिंहो देवदत्तः, अग्निर्माणवक इति। एवमिहाप्यनिन्द्रे गार्हपत्ये इन्द्रशब्दो भविष्यति।' यही अभिप्राय सायणाचार्य ने अथर्व० १।१।१ के भाष्य में इस प्रकार लिखा है—'बलीयस्या श्रुत्या लिङ्गं बाधित्वा गुणकल्पनयापि विनियोगसम्भवात्। तत्र हि ऐन्द्रमन्त्रे इन्द्रशब्दस्य गौणीं वृत्तिमाश्रित्य गार्हपत्योपस्थाने विनियोगः कृतः।'

की परिभाषा की दृष्टि से काल्पनिक ही कहे जायेंगे।

इसी प्रकार के अनेक काल्पनिक विनियोग श्रौतसूत्रों में मिलते हैं। यथा –

'दधिक्राव्णो अकारिषम् इति वा संबुभूषन् दधिभक्षम्।'

शांखा० श्रौत ४।१३।२॥

'दधिक्राव्णो अकारिषम् इति अग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य[1]।'

आश्व० श्रौत ६।१३॥

अर्थात्—'दधिक्राव्णो अकारिषम्' से दही का भक्षण करे। मन्त्रगत 'दधिक्रावा' पद अश्व का वाची है। देखो—निघण्टु १।१४॥ 'दधिक्रावा' पदान्तर्गत 'दधि' अवयव का 'दही' वाचक 'दधि' शब्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव यास्क ने दधिक्रावा सदृश तथा समानार्थक 'दधिक्राः' पद का निर्वचन 'दधत् क्रामतीति वा, दधत् क्रन्दतीति वा, दधद् आकारी भवतीति वा' (निरुक्त २।२६) दर्शाया है। तदनुसार 'दधि' शब्द 'कि' या 'किन्' (अष्टा० ३।२।१७१) प्रत्ययान्त है। औत्तरकालिक याज्ञिकों ने न केवल 'दधिक्रावा' पद के, अपितु सम्पूर्ण मन्त्र के अर्थ की उपेक्षा करके दहीवाचक 'दधि' शब्द के साथ अक्षर-वर्णसादृश्य-मात्र के आधार पर इस मन्त्र का 'दधिप्राशन' में विनियोग कर दिया।[2]

निरुक्त ७।२० में भी लिखा है—"ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में 'जातवेदाः' देवतावाला एक ही 'गायत्र तृच' है। यज्ञों में 'जातवेदाः' देवतावाली अनेक गायत्रीछन्दस्क ऋचाओं की आवश्यकता होती है। इसलिये 'जातवेदाः' देवतावाली ऋचाओं के स्थान में जो कोई 'अग्नि' देवतावाली गायत्रीछन्दस्क ऋचाएं होती हैं, वे विनियुक्त हो जाती हैं"[3]

निरुक्त १२।४० में पुनः लिखा है—"ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में

---

१. तुलना करो—'दधिक्राव्णो प्राङ्मुखो दधि प्राश्य।' काश्यप (आयुर्वेदीय) संहिता, पृष्ठ ३६।

२. इसी विनियोग से भ्रान्त होकर पाश्चात्य विद्वानों ने इस मन्त्र के आधार पर दो कल्पनाएं की हैं—(क) आर्य लोग पहले दूध दही के लिए घोड़ियां पालते थे। (ख) घोड़ियों के लिये उपयुक्त लम्बी-लम्बी घास के मैदान मध्य एशिया के आसपास हैं। अतः पहले आर्य लोग वहीं निवास करते थे।

३. 'तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते, यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने विनियुज्यते।'

'विश्वेदेव' देवतावाला एक ही गायत्र तृच उपलब्ध होता है। अतः उनके स्थान में जो कोई 'बहुदेवता' वाली गायत्र ऋचाएं हैं, वे विनियुक्त होती हैं। शाकपूणि 'विश्वेदेव' देवतावाली ऋचाओं के स्थान में 'विश्व' पद घटित ऋचाओं का विनियोग मानता है।''[1]

निरुक्त के इन उद्धरणों से 'काल्पनिक विनियोग क्यों प्रारम्भ हुए' इस विषय पर भले प्रकार प्रकाश पड़ता है।[2]

उपलब्ध ब्राह्मणों में ऐतरेय ब्राह्मण सबसे प्राचीन है।[3] उसमें यज्ञ में क्रियमाण तत्तत् क्रियाकलाप को साक्षात् कहनेवाले मन्त्र विनियोग को यज्ञ की समृद्धि (श्रेष्ठता) कहा है।[4] इससे स्पष्ट है कि उसके काल में तत्तत् यज्ञीय क्रियाकलाप को साक्षात्

---

१. 'तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चिद् बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने विनियुज्यते। यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः।'

२. यज्ञ-कर्मों में केवल देवता-विषय में ही काल्पनिक विनियोग नहीं किया गया, अपितु छन्दों के विषय में भी काल्पनिक छन्दों की सृष्टि रचकर मन्त्रों का किया गया अयथार्थ विनियोग ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में उपलब्ध होता है। इस विषय के लिये हमारे 'वैदिक छन्दोमीमांसा' ग्रन्थ का अन्तिम अठारवां अध्याय देखना चाहिये।

३. ऐतरेय ब्राह्मण को पुराण-प्रोक्त मानकर 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (अष्टा० ४।३।१०५) पाणिनीय नियमानुसार 'ऐतरेयिणः' पद निष्पन्न होता है। (द्र०—महाभाष्य तथा काशिकादि)। इस विषय पर हमने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' (भाग १, पृष्ठ २४९-२५२, वि० सं० २०३०) में विस्तार से लिखा है। ऐतरेय ब्राह्मण के प्रारम्भिक ३० अध्याय मूलतः महीदास ऐतरेय-प्रोक्त हैं, और अन्तिम १० अध्याय आचार्य शौनक-प्रोक्त हैं (परन्तु आचार्य शौनक ने महीदास के ३० अध्यायों का भी प्रवचन करते हुए उनमें कुछ परिवर्तन किया है), इसी भेद को स्पष्ट करने के लिए आश्वलायन गृह्य ३।४।४; कौषीतकि गृह्य २।५, तथा शांखायन गृह्य ४।६ के तर्पण प्रकरण में ऐतरेय महैतरेय का निर्देश मिलता है। इसी प्रकार ऐतरेय आरण्यक के प्रथम तीन आरण्यकों का प्रवचन ऐतरेय ने किया था। चतुर्थ आरण्यक का आश्वलायन ने, और पञ्चम आरण्यक का शौनक ने। देखो—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, ब्राह्मण-आरण्यक भाग, पृष्ठ २२६ (लाहौर सं० १)।

४. 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।' १।४, १३, १६ इत्यादि।

या परम्परा से कथंचित् भी प्रतिपादन न करनेवाले मन्त्रों का पद या अक्षरवर्ण के सादृश्य से विनियोग[1] करने की परिपाटी आरम्भ हो चुकी थी। और ऐसा असम्बद्ध विनियोग भी प्रामाणिक माना जाने लग गया था। अतएव ऐतरेय ब्राह्मणकार उसे स्पष्ट शब्दों में अयुक्त घोषित न कर सके।

भारतीय कालगणना के अनुसार महीदास ऐतरेय का काल याज्ञिक प्रक्रिया के उद्भव के ३५०० वर्ष पश्चात् और भारतयुद्ध के लगभग १५०० वर्ष पूर्व है।[2] अतः पद अक्षर वर्णमात्र के सादृश्य से काल्पनिक विनियोगों का आरम्भ निश्चय ही भारत युद्ध से २००० वर्ष पूर्व हो चुका था। परन्तु उस काल तक उनका आधिक्य नहीं था, यह भी ऐतरेय के वचन से स्पष्ट है।

काल्पनिक मन्त्र

जब विभिन्न प्रकार के यज्ञों की मात्रा बहुत बढ़ी, तब उन सब यज्ञों में क्रियमाण विविध क्रिया-कलाप के अनुरूप (जो अर्थतः उस क्रिया को कह सकते हों) मन्त्रों के उपलब्ध न होने पर मन्त्रकल्पना का आरम्भ हुआ[3]। इस प्रकार के अनेक काल्पनिक मन्त्र ब्राह्मण आरण्यक और श्रौतसूत्र आदि में उपलब्ध होते हैं। गृह्यसूत्रों में तो इस प्रकार के काल्पनिक मन्त्रों की बहुतायत है (उत्तर काल में ऐसे काल्पनिक मन्त्रों को लुप्त शाखाओं में पठित समझा जाने लगा)।

हमारे विचारानुसार काल्पनिक मन्त्रों की रचना का आरम्भ भारत युद्ध से

---

१. पदसादृश्य से, यथा—'दधिक्राव्णो अकारिषमिति ···· दधिभक्षम्' (शां० श्रौत ४।१३।२); अक्षरवर्णसादृश्य से, यथा 'शन्नो देवी' का शनैश्चर की पूजा में, 'उदबुध्यस्व' का बुध की पूजा में। अग्निवेश्य गृह्य अ० ५; वैखानस गृह्य अ० ४, खण्ड १३, १४ इत्यादि।

२. यह हमारी कालगणना के अनुसार है। ऐतरेयब्राह्मण कृष्णद्वैपायन के शिष्य प्रशिष्यों के शाखा-प्रवचन से पूर्व का है, इतना तो निश्चित है। द्र०—पूर्व पृष्ठ ९३ की टि० १।

३. द्र०— ब्राह्मण धम्मिय सुत्त १९ का पूर्व पृष्ठ ८८, टि० ३ में उद्धृत वचन। निरुक्त ७।३ में लिखा है 'तदेतद् बहुलम् आध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु।' अर्थात् आशीः से रहित स्तुतिमात्र का प्रयोग आध्वर्यव=यजुर्वेद में और यज्ञप्रयोजनवाले मन्त्रों में बहुतायत से मिलता है। याज्ञेषु=यज्ञ एव प्रयोजनं येषां मन्त्राणां तेषु, अर्थात् यज्ञार्थं सृष्टेषु मन्त्रेषु।

लगभग दो ढाई सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था।[1] आरम्भ में वेदमन्त्रों को अपने-अपने कर्मों के अनुरूप बनाने के लिये उनमें साधारण परिवर्तन किया गया।[2] तत्पश्चात् मन्त्रों के विभिन्न स्थानों के विभिन्न वाक्य जोड़कर मन्त्रों की रचना की गई[3]। तदनन्तर वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों का सन्निवेशमात्र करके (जिससे वे वैदिक मन्त्रवत् प्रतीत हों) मन्त्र रचे गये।[4] अन्त में यही मन्त्र-कल्पना 'नमो भगवते वासुदेवाय' सादृश साम्प्रदायिक, तथा 'ओं ह्रीं हूं फट् स्वाहा' आदि सर्वथा अर्थरहित तान्त्रिक मन्त्रों की रचना में परिणत हुई।

मन्त्रानर्थक्य-वाद

याज्ञिक काल में वेद के उपयोग का एकमात्र केन्द्र यज्ञ बन गये।[5] कर्मकाण्ड में

---

१. यज्ञों की अत्यधिक कल्पना द्वापर में हुई—"संरोधादायुषस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे" (महा० शा० २३८।१४)। यज्ञों की विविध कल्पना होने पर ही मन्त्रों की कल्पना करने की आवश्यकता हुई। अतः मन्त्रकल्पना का आरम्भ द्वापर के प्रारम्भ में या उससे कुछ पूर्व मानना होगा।

२. तुलना करो—राजसूयप्रकरण के 'एष वो अमी राजा' (माध्य० संहिता ९।४०; १०।१८) के सामान्यवाचक 'अमी' पद के साथ 'एष वो भरता राजा' (तै० सं० १।८।१०।१२); 'एष वः कुरवो राजा, एष पञ्चाला राजा' (मैत्रा० सं० २।६।९; काठक सं० १५।१७) मन्त्रों में आये भरत कुरु पञ्चाल आदि विशिष्ट वाचक पदों की।

३. इसके लिये ऋग्वेद के खिलपाठ के मन्त्रों का अनुशीलन करना चाहिये।

४. यथा—सावित्री मन्त्र के 'धियो यो नः प्रचोदयात्' के 'नः प्रचोदयात्' पदों का सन्निवेश करके रचे गये कल्पित ११ मन्त्र मैत्रायणी सं० २।९।१ में उपलब्ध होते हैं। यथा—'तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्॥' इसी प्रकार के नारायण गरुड़ दन्ती दुर्गा आदि के ११ मन्त्र तै० आर० १०।१ में मिलते हैं। वीर मित्रोदय भक्तिप्रकाश पृष्ठ १०६ पर एक राम-गायत्री उद्धृत है—'दशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि। तन्नो रामः प्रचोदयात्' इति रामगायत्र्या पुष्पाञ्जलिर्देया।

५. 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः'। वेदाङ्गज्योतिष के अन्त में॥
'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्……'। मीमांसा १।२।१॥

साक्षात् अविनियुक्त वेदभाग निष्प्रयोजन न माना जावे[1], इसलिये वेद के समस्त मन्त्रों का कर्मकाण्ड के साथ येन-केन प्रकारेण बलात् सम्बन्ध जोड़ा गया।[2] मन्त्रों की मुख्यता समाप्त होकर विनियोजक ब्राह्मण ग्रन्थ ही मुख्य बन गये। ब्राह्मण ग्रन्थों की मुख्यता यहां तक बढ़ी कि 'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्रों में विद्यमान साक्षात् विधायक लोट् लिङ् और लेट् लकारों को विधायक न मानकर ब्राह्मण ग्रन्थों के 'प्रथयति' आदि पदों को ही विधि अर्थवाला (=विधायक) माना गया।[3] अर्थात् प्रारम्भ में मन्त्र के किसी पद विशेष के मुख्य अर्थ की उपेक्षा की गई, परन्तु उत्तरकाल में पूरे मन्त्र को ही अनर्थक मानकर उसके पदमात्र के सादृश्य से विनियोग की कल्पना की गई। 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' तथा 'वक्ष्यन्ति वेदागनीगन्ति कर्णम्' आदि मन्त्रों का कर्णवेध-संस्कार में किया गया विनियोग[4] ऐसा ही है। इन मन्त्रों में कोई भी ऐसा पद नहीं है, जो कर्ण के वेधन करने का वाचक हो। मन्त्रों में पठित कर्ण पदमात्र को देखकर आंख मीचकर कर्णवेधन में इनका विनियोग कर दिया गया। उत्तरकाल में पदैकदेशमात्र के सादृश्य से विनियोग होने लगा। यथा—'दधिक्राव्णो अकारिषम्' का दधिभक्षण में।[5] तत्पश्चात् अक्षरमात्र के सादृश्य से विनियोगों की कल्पना हुई। यथा—'शन्नो देवी' का शनैश्चर की, और

---

१. देखो—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (मीमांसा १।२।१) पूर्वपक्षोपस्थापन।

२ 'आश्विने सम्पत्स्यमाने सूर्यो नोदेयाद् अपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्।' द्र०—आप० श्रौत १४।१।२॥ तथा—'सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचस्तोमे पारिप्लवे शंसति।' सायण ऋग्भाष्योपोद्घात में उद्धृत।

३. 'अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्' (मीमांसा २।१।३१)। अर्थात् प्रयोग=ब्राह्मणवचन के सामर्थ्य से (ब्राह्मणवचन अनर्थक न हो जावे, इसलिये) मन्त्र के विध्यर्थक लोट् लेट् लिङ् आदि लकार अभिधानवाची=यज्ञ में क्रियमाण कर्म के स्मरणमात्र करनेवाले होते हैं, विधायक नहीं होते, अर्थात् विधायकत्व ब्राह्मणवचनों में ही है मन्त्रों में नहीं है।

४. देखो—कात्यायन गृह्य—कर्णवेध संस्कार। पारस्कर गृह्य की टीका में उद्धृत। तथा संस्कारभास्कर बम्बई संस्क० पत्रा १४१ ख। संस्कारभास्कर के रचयिता ने इसी गृह्य के अनुसार यह विनियोग लिखा है।

५. द्र० पूर्व पृष्ठ ९२ पर शाङ्खायन श्रौत ४।१३।२; तथा आश्व० श्रौत ६।१३ के वचन।

'उद्बुध्यस्व' का बुध की पूजा में।[1]

इस प्रकार उत्तरोत्तर काल्पनिक विनियोगों के आधिक्य से प्रभावित होकर कौत्स जैसे कर्मकाण्डी ने स्पष्ट घोषणा कर दी—"मन्त्र अनर्थक हैं।"[2] अर्थात् मन्त्रों का यज्ञों में क्रियमाण कर्मों के साथ कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं है। उनका यज्ञान्तर्गत किसी भी कर्मविशेष में प्रयोग होने से अदृष्ट (=धर्म विशेष) उत्पन्न होता है।

इस प्रकार याज्ञिकों द्वारा उद्भावित मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रभाव वेदों की तात्कालिक शाखाओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में स्पष्ट लक्षित होता है। यही कारण है कि इन शाखाओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में (शतपथ को छोड़कर) विनियोग (=इस मन्त्र से यज्ञ का अमुक कर्म करे) का ही उल्लेख प्रायः मिलता है। अतएव ब्राह्मण का लक्षण ही 'विनियोजकं ब्राह्मणम्'[3] ऐसा याज्ञिकों में प्रसिद्ध हो गया। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में जहां-कहीं मन्त्रों के अर्थ उपलब्ध होते हैं, वे प्रायः आनुषङ्गिक हैं, अर्थात् मन्त्रार्थ के परिज्ञान के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना नहीं हुई। अतः इन

---

१. द्रष्टव्य—अग्निवेश्य गृह्य ५; वैखानस गृह्य अ० ४, खं० १३, १४; बौधायन गृह्य शेष अ० १६, १७ में नवग्रह पूजा के मन्त्र।

उक्त नवग्रह पूजा में विनियुक्त मन्त्रों के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (संवत् १९३२, सन् १८७५) के पृष्ठ ३३३ में इस प्रकार लिखा है—"शन्नो देवी०, उद्बुध्यस्वाग्ने" इत्यादि मन्त्रों में कहीं शनैश्चर मङ्गल और बुधादि ग्रहों के नाम भी नहीं हैं। परन्तु विद्याहीन होने से आजीविका के लोभ से ब्राह्मणों ने जाल रच रखा है—ए ग्रह की कोण्डी (=कण्डिका) है। सो किसी ने ऐसा विचारा कि ग्रहों का मन्त्र पृथक् निकालना चाहिये, सो मन्त्रों का अर्थ तो नहीं जानता, किन्तु अटकल से उसने युक्ति रची कि शनैश्चर शब्द के आदि में तालव्य शकार है, इससे यही शनैश्चर का मन्त्र है। देखना चाहिये कि शं सुख का नाम है। (मूल में यह वाक्य आगे-पीछे है) तथा पृथिव्या अयम् इससे परमेश्वर का ग्रहण होता है। इस शब्द से मङ्गल को ले लिया, उद्बुध्यस्व क्रिया से बुध को ले लिया। उद्बुध्यस्व 'बुध अवगमने' धातु की क्रिया है।

२. 'यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनाय, अनर्थकं भवतीति कौत्सः, अनर्थका हि मन्त्राः। तदेतेनोपेक्षितव्यम्।' निरु० १।१५॥

३. तै० सं० भाष्य भट्टभास्कर भाग १, पृष्ठ ३; तथा 'कर्मचोदका ब्राह्मणानि।' आप० श्रौ० परि० १।३४॥

ब्राह्मण ग्रन्थों (शतपथ को छोड़कर) से वेद के याज्ञिक अर्थ का भी बोध नहीं होता। केवल ब्राह्मण-प्रदर्शित विनियोग के आधार पर याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ की कल्पना की जाती है।

मन्त्रानर्थक्यवाद का खण्डन

कौत्स आदि याज्ञिकों द्वारा पल्लवित मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रतिवाद जैमिनि[1] और यास्क[2] ने बड़े प्रयत्न से किया है। सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर, अथवा स्वयं तर्कजीवी[3] होने के कारण याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण में याजुष मन्त्रों का विनियोग दर्शाते हुए शुक्ल यजुर्वेद के लगभग १८ अध्यायों के मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ भी दर्शाया है।

अति प्राचीन काल के वेदार्थ के संकेत

वेदों के केवल यज्ञ के लिये पर्यवसित हो जाने पर तथा प्राचीन वैज्ञानिक यज्ञों में उत्तरोत्तर पर्याप्त परिवर्तन और नये-नये यज्ञों के उद्भव के कारण वेदमन्त्रों के अनर्थक बन जाने पर भी भारतयुद्धकाल तक वेदार्थ के प्रारम्भिक दृष्टिकोण का सर्वथा लोप नहीं हुआ था। इसलिये तात्कालिक वैदिक शाखा, ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों में प्राचीन वेदार्थ के कुछ संकेत सुरक्षित रह गये हैं। यदि उन संकेतों को ध्यान में रखकर आज भी वेदार्थ करने का प्रयत्न किया जाये, तो अनेक रहस्यों का उद्घाटन हो सकता है। इसी प्रकार यदि यज्ञों की सूक्ष्म विवेचना द्वारा उनकी प्रकल्पना के पौर्वापर्य का ज्ञान हो जाये, तो प्राचीन वैज्ञानिक आधार पर

---

१. पूर्वमीमांसा अध्याय १, पाद २, अधिकरण १।

२. निरुक्त १।१६॥

३. याज्ञवल्क्य अपने समय के तर्कजीवी व्यक्ति थे। उन्होंने अनेक प्राचीन याज्ञिक-पमतों का तर्क के आधार पर खण्डन किया है। यथा—'तदु ह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति प्राणाः पृषदाज्यमिति वदन्तः, तदु ह याज्ञवल्क्यं चरकाध्वर्युरनुव्याजहारानैवं कुर्वन्तं प्राणं वा अयमन्तरगादध्वर्युः प्राण एनं हास्यतीति। स (याज्ञवल्क्यः) ह स्म बाहू अन्वेक्ष्याह—इमौ पलितौ बाहू, क्वस्विद् ब्राह्मणस्य वचो बभूव, इति न तदाद्रियेत'। शत० ३।८।२।२४, २५॥ इसी प्रकार—'अवसभा अह देवानां पत्नीः करोति, परः पुंसो हास्य पत्नी भवतीति, तदु होवाच, याज्ञवल्क्यो यथादिष्टं पत्न्या अस्तु, कस्तदाद्रियेत यत्परः पुंसो वा पत्नी स्यादिति'। शत० १।३।४।२१॥

प्रकल्पित यज्ञों के द्वारा आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ के समझने समझाने में हम समर्थ हो सकते हैं।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि याज्ञिक प्रक्रियाओं में हुए उत्तरोत्तर परिवर्तन और परिवर्धन का वेदार्थ पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। और जो याज्ञिक प्रक्रिया प्रारम्भ में वेदार्थ का ज्ञान कराने के लिये कल्पित की गई थी, उसने अन्त में वेदों को भी अर्थ-रहित बना दिया। यास्क जैमिनी और याज्ञवल्क्य के प्रभाव से मन्त्रानर्थक्यवाद का यद्यपि कुछ प्रतिवाद हुआ, तथापि उससे प्राचीन या तत्समकालीन ग्रन्थों में मन्त्रार्थ से असम्बद्ध जो याज्ञिक मन्त्रविनियोग हो चुका था, उसका परिमार्जन न हुआ, अर्थात् उसका खण्डन नहीं किया गया। अतः याज्ञिक लोग उसी प्रकार मन्त्रार्थ से असम्बद्ध नये-नये विनियोग उत्तर काल में भी करते रहे। हमारा विचार है कि— यदि यास्क जैमिनि और याज्ञवल्क्य आदि मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रबल खण्डन न करते, तो जो कुछ याज्ञिकप्रक्रियानुसारी टूटा-फूटा वेदार्थ उपलब्ध होता है, वह भी न मिलता और वेदमन्त्र सर्वथा तान्त्रिक मन्त्रों के समान निरर्थक समझे जाते। अस्तु।

३—आधिदैविक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

याज्ञिक प्रक्रिया के अनन्तर आधिदैविक प्रक्रिया का स्थान है। याज्ञिक प्रक्रिया का इस प्रक्रिया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यास्क के शब्दों में याज्ञिक प्रक्रिया-नुसारी वेदार्थ पुष्प-स्थानीय है और आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ फल-स्थानीय[1]। इससे स्पष्ट है कि याज्ञिक वेदार्थ की अपेक्षा आधिदैविक वेदार्थ प्रधान है।

याज्ञिक प्रक्रिया से पूर्व की वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया

आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का अभिप्राय समझने से पूर्व 'देव' शब्द का अर्थ जान लेना आवश्यक है। जब यज्ञों की प्रकल्पना नहीं हुई थी, तब वेदार्थ की आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ये तीन प्रक्रियाएं विद्यमान थीं। उस समय की आधिदैविक प्रक्रिया और यज्ञप्रकल्पना के अनन्तर काल की आधिदैविक प्रक्रिया में पर्याप्त अन्तर है। प्राग्यज्ञप्रकल्पना-काल में ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों को द्यु और पृथिवी इन दो विभागों में बांटा गया था। उन्हें ही तात्स्थ्य उपाधि से देव और भूत कहा जाता था।[2] तदनुसार समस्त पार्थिव पदार्थों का वर्णन आधिभौतिक

---

१. 'अर्थं वाचः (वेदवाण्याः) पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले।' नि० १।२०॥

२. 'देवो द्युस्थानो भवतीति वा'। निरुक्त ७।१५॥ 'अयं वै (पृथिवी) लोको भूतम्।' तै० ब्रा० ३।८।१८।५॥

प्रक्रिया का अङ्ग था और पृथिवी से ऊपर के समस्त पदार्थों का वर्णन आधिदैविक प्रक्रिया का अङ्ग। उस समय देव शब्द का अर्थ 'देवो द्युस्थानो भवति' इतना ही समझा जाता था। उत्तर काल में यज्ञप्रकल्पना के साथ-साथ नये दैवतवाद का भी उदय हुआ, और देव शब्द के प्राचीन अर्थ 'देवो द्युस्थानो भवति' के साथ 'दानाद्वा द्योतनाद्वा'[1] अंश और जोड़ा गया। तदनुसार अग्नि जल वायु नदी पर्वत वृक्ष ओषधि वनस्पति आदि पदार्थों की भी गणना देवों में की गई। क्योंकि मनुष्य इन पदार्थों से कुछ न कुछ लाभ उठाता ही है। अतः प्राग्याज्ञिक काल के आधिभौतिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का बहुतसा अंश नूतन परिबृंहित आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ के अन्तर्गत हो गया, और आधिभौतिक प्रक्रिया की स्वतन्त्र सत्ता लुप्त हो गई। परन्तु याज्ञिक प्रक्रिया के उद्भव के कारण आधिभौतिक वेदार्थ प्रक्रिया के लुप्त होने पर भी वेदार्थप्रक्रिया का त्रिविधत्व बना रहा।

आरम्भ में (त्रेता के तृतीय चरण तक) आधिदैविक प्रक्रिया का अभिप्राय ब्रह्माण्ड की किसी क्रिया वा पदार्थ का वर्णन करना समझा जाता था। इसके संकेत निरुक्त[2] और ब्राह्मण[3] ग्रन्थों में यत्र तत्र मिलते हैं। उत्तर काल (त्रेता के अन्त) में आधिदैविक प्रक्रिया में अधिष्ठातृवाद की उत्पत्ति हुई। तदनुसार अग्नि वायु सूर्य चन्द्र ओषधि वनस्पति आदि समस्त पदार्थों में चेतनस्वरूप देवविशेषों की कल्पना की गई। उस समय आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का प्रयोजन अग्नि वायु सूर्य आदि देवों से स्व-अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति के लिये उनकी प्रार्थना करना मात्र रह गया[4]। दूसरे शब्दों में अत्युत्कृष्ट विज्ञान से युक्त मन्त्रों की स्थिति चारण भाट आदि के स्तुति-वचनों के समान बन गई। इसी कारण प्राचीन काल में आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार वेद का जो वैज्ञानिक अर्थ किया जाता था, वह उत्तर काल में शनैः-शनैः लुप्त होता गया।

देवता के स्वरूप में किस प्रकार परिवर्तन हुआ, और उसमें कौन-कौन से वाद उत्पन्न हुए, इनका संक्षिप्त निदर्शन यास्क ने दैवतमीमांसा प्रकरण (निरु० अ० ७) में कराया है।

आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ को समझने के लिये इस समय एकमात्र

---

१. निरुक्त ७।१५॥ २. यथा ३।१२—'यत्रा सुपर्णा' मन्त्र की व्याख्या।

३. ब्राह्मणों में अनेकत्र।

४ 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।' निरुक्त ७।१॥

सहारा यास्कीय निरुक्त ही है। हां, ब्राह्मण ग्रन्थों विशेषकर शतपथ ब्राह्मण से इस विषय में कुछ सहायता मिल सकती है।

नैरुक्तप्रक्रिया के सम्बन्ध में एक भ्रान्ति

यास्कीय निरुक्त में मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या उपलब्ध होने से लोक में नैरुक्त-प्रक्रिया का अभिप्राय आधिदैविक-प्रक्रिया ही समझा जाता है, परन्तु यह एक भारी भ्रम है। वस्तुतः निरुक्त शब्द निर्वचन का पर्याय है।[1] वह निर्वचन भी अर्थ-निर्वचन है, शब्द-निर्वचन नहीं है।[2] तदनुसार निर्वचन को प्रधानता देकर जो भी मन्त्रव्याख्या की जायेगी, चाहे वह याज्ञिक हो, चाहे आधिदैविक, वा चाहे आध्यात्मिक; सभी व्याख्या नैरुक्तप्रक्रियानुसारी समझी जायेगी। यास्कीय निरुक्त के दैवत प्रकरण से विदित होता है कि कुछ प्राचीन निरुक्तकार याज्ञिक प्रक्रियानुसार भी मन्त्र-व्याख्या करते थे।[3] इसी प्रकार निरुक्त के परिशिष्ट प्रकरण से विदित होता है कि कतिपय निरुक्त ग्रन्थ आध्यात्मिक प्रक्रिया को दृष्टि में रखकर भी लिखे गये थे।[4]

---

१. 'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥' द्र०—काशिका ६।३।१०९॥

२. व्याकरण शब्दनिर्वचनशास्त्र=शब्दव्युत्पत्तिशास्त्र है। और निरुक्त अर्थ-निर्वचन=शब्दप्रवृत्तिनिमित्त का बोधक शास्त्र है। इस भेद को न जानकर आधुनिक योरोपीय और उनके अनुगामी भारतीय विद्वानों ने यास्क के निर्वचनों को अधिकतर अशुद्ध मूर्खतापूर्ण एवं निरर्थक कहा है। द्र०—सिद्धेश्वरवर्मा कृत एटोमोलोजि आफ यास्क, तथा राजवाड़े सम्पादित निरुक्त (पूना सं०) की भूमिका।

३. यद्दैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति (निरु० ७।४)। अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायांहोमुचे, तान्यप्येके समामनन्ति (निरु० ७।१३)। इन्द्र से वृत्रहा इन्द्र, वृत्रतुर इन्द्र, अंहोमुक् इन्द्र को पृथक् मानकर इन विशेषणयुक्त पदों की निघण्टु में परिगणना करना याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार ही उपपन्न होता है। क्योंकि याज्ञिक प्रक्रिया में विभिन्न विशेषण-विशिष्ट देवता पृथक्-पृथक् माने जाते हैं। देखो—'तस्माद् देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः' (शाबरभाष्य मीमांसा २।१।१६)।

४. निरुक्त अ० १३, १४ में आध्यात्मिक अर्थ की प्रधानता है। अध्यात्म-स्तुतियों की ही प्राचीन संज्ञा 'अतिस्तुति' है। अतिस्तुतिरूप से व्याख्या करनेवाले

अतः नैरुक्त प्रक्रिया का अर्थ केवल आधिदैविक प्रक्रिया समझना भूल है।[१]

आधिदैविक-प्रक्रिया पर याज्ञिक प्रक्रिया का प्रभुत्व

भारतयुद्ध काल तक वेदार्थ की आधिदैविक प्रक्रिया याज्ञिक प्रक्रिया से अभिभूत होकर भी कथंचित् जीवित रही। परन्तु उसके अनन्तर याज्ञिक प्रक्रिया ने उसे सर्वथा समाप्त कर दिया। याज्ञिक प्रक्रिया का इतना प्रभाव हुआ कि यास्कीय निरुक्त के आधिदैविक प्रक्रियानुसारी होने पर भी दुर्ग और स्कन्द ने निरुक्तान्तर्गत मन्त्रों की व्याख्या भी याज्ञिकविनियोगों का निदर्शन कराते हुए याज्ञिक प्रक्रियानुसार ही की है। यही अवस्था निरुक्त-समुच्चयकार आचार्य वररुचि की है। इतना होने पर भी वररुचि दुर्ग और स्कन्द की व्याख्याओं में विशुद्ध आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ के संकेत अवश्य उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार यास्कीय निरुक्त, उसकी व्याख्याओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में यत्र तत्र उल्लिखित 'इत्यधिदैवतम्' आदि संकेतों के आधार पर वेदमन्त्रों का आधिदैविक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ समझा जा सकता है। इसमें प्राचीन यज्ञों की प्रक्रिया से भारी सहायता मिल सकती है। वर्तमान भौतिक विज्ञान तथा ज्योतिष विज्ञान से भी पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है।

४—आध्यात्मिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

वेदार्थ की आधिदैविक प्रक्रिया के अनन्तर आध्यात्मिक प्रक्रिया का स्थान है। यास्क के मतानुसार आधिदैविक वेदार्थ पुष्पस्थानीय है, और आध्यात्मिक वेदार्थ

नैरुक्त भी देवताप्रकरण में अग्नि का ही प्रथम निर्देश करते थे (अ० १३, खण्ड १)। अध्याय १४ में स्पष्टतया लिखा है—'अथात्मनो महतः प्रथमं भूतनामधेयानन्नुक्रमिष्यामः' (खण्ड २३); 'अथैतं महान्तमात्मानमेतानि सूक्तानि, एता ऋचोऽनुप्रवदन्ति' (खण्ड २४)। तुलना करो—'अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः०' (शत० १४।५।४।१०)।

१. निरुक्त के टीकाकार दुर्गस्कन्द-महेश्वर आदि, तथा निरुक्तसमुच्चयकार वररुचि नैरुक्त प्रक्रिया का अभिप्राय केवल आधिदैविक प्रक्रिया ही समझते हैं। वे जहां भी ऐतिहासिक प्रक्रिया के विरोध में नैरुक्त प्रक्रियानुसारी अर्थ दर्शाते हैं, वहां सर्वत्र आधिदैविक अर्थ ही उपस्थित करते हैं। सम्भवतः इस भूल का कारण यास्कीय निरुक्त का आधिदैविक प्रक्रियानुसारी होना ही है।

फल-स्थानीय ।[1] अर्थात् याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ से आधिदैविक वेदार्थ श्रेष्ठ है, और आधिदैविक वेदार्थ से आध्यात्मिक वेदार्थ । दूसरे शब्दों में अध्यात्म का ज्ञान करना वेद का मुख्य अर्थात् अन्तिम प्रयोजन है ।

वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया का वास्तविक अभिप्राय समझने के लिए प्रथम अध्यात्म शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है । आत्मा शब्द का अर्थ है—शरीर[2] जीव और ईश्वर । जो आत्मा के विषय में कहा जाय, वह 'अध्यात्म' कहाता है[3] । इस प्रकार आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ में शरीर जीव और ईश्वर सम्बन्धी सभी विज्ञान का अन्तर्भाव हो जाता है । शरीरविज्ञान आयुर्वेद का एक अवान्तर विषय है । आयुर्वेद का वेद के साथ सीधा सम्बन्ध है, यह हम पूर्व प्रतिपादन कर चुके हैं । अतः वेद को शरीरविज्ञान का प्रतिपादन करना ही चाहिये । वेद का सम्पूर्ण ज्ञान है ही जीव के निःश्रेयस् और अभ्युदय के लिये । अतः वेद के साथ जीव का साक्षात् या परम्परा से सम्बन्ध होना अवश्यंभावी है । अब रहा ईश्वर का सम्बन्ध, सो जिस प्रकार वेद में संसार के विविध पदार्थों का विज्ञान दर्शाया है, उसी प्रकार वेद में ईश्वर सम्बन्धी विज्ञान का निर्देश होना भी आवश्यक है । इतना ही नहीं प्राचीन भारतीय सम्प्रदाय के अनुसार वैदिक विज्ञान ईश्वरप्रदत्त माना गया है ।[4] अतः वेद का ईश्वर के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसलिये अनेक आचार्यों का कहना है कि वेद के किसी भी मन्त्र में ईश्वर का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता ।[5] इस प्रकार वेद के आध्यात्मिक-प्रक्रियानुसारी अर्थ का अभिप्राय है शरीर जीव तथा ईश्वर सम्बन्धी किसी विज्ञान का प्रतिपादन करना ।[6]

---

१. 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा ।' निरु० १।२०।।

२. 'द्वावात्मानौ—अन्तरात्मा शरीरात्मा च ।' महाभाष्य १।३।६७।। अथर्व० १०।२।३२ तथा १०।८।४३ मे यक्ष=जीव के लिये प्रयुक्त 'आत्मन्वत्' विशेषण में आत्मा शब्द का अर्थ शरीर ही है ।

३. आत्मानमधिकृत्य इत्यध्यात्मम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः ।

४. 'शास्त्रयोनित्वात्' । वेदान्त १।१।३।। 'अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ··· ।'शत० १४।५।४।६।।

५. 'नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति ।' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ३६३, संस्क० ३ ।

६. यास्क ने निरुक्त ७।१, २ में ऋचाओं के त्रिविधत्व का प्रतिपादन करते हुए

अति प्राचीन काल में वेद का आध्यात्मिक अर्थ किस प्रकार का किया जाता था, यह इस समय निश्चयात्मक रीति से नहीं बताया जा सकता। क्योंकि इस समय जितना भी वैदिक वाङ्मय उपलब्ध हो रहा है, वह सब भारतयुद्धकाल के आस-पास का है। इसके अतिरिक्त कोई ऐसी प्राचीन आर्ष ग्रन्थ भी नहीं मिलता, जिसमें किसी वेद के किसी भी भाग का आनुपूर्वी से आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया हो। इतना होने पर भी उपलभ्यमान आर्ष वाङ्मय में आध्यात्मिक अर्थ के अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं, विशेषकर आरण्यक ग्रन्थों में, जिनसे इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

निरुक्त ७।४ में लिखा है—

'महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।'

अर्थात् देवता के अत्यन्त ऐश्वर्यशाली होने से एक ही देवता की बहुत प्रकार से स्तुति होती है।

अब प्रश्न होता है कि वह एक देवता कौनसी है? इसका उत्तर निरुक्त के परिशिष्ट (जिसमें मुख्यतया वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया दर्शाई है[1]) में इस प्रकार दिया है—

'अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः, तत्परं तद् ब्रह्म।'

अर्थात् वह महानात्मा पर (=परमात्मा) है, वह ब्रह्म है।

कात्यायन के मत में इस महानात्मा का नाम सूर्य है।[2] वेद की दृष्टि में इस महानात्मा का नाम अग्नि है—

"अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः।" ऋ० ३।२६।७॥

इसी एक अग्निरूपी महानात्मा के अत्यन्त ऐश्वर्ययुक्त होने से[3] अध्यात्मचिन्तक

परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत के साथ जिस आध्यात्मिक का निर्देश किया है, वह इस आध्यात्मिक से सर्वथा भिन्न है।

१. 'व्याख्यातं दैवतं यज्ञाङ्गं च। अथात ऊर्ध्वगतिं व्याख्यास्यामः।' निरुक्त १४।१॥

२. 'एकैव ह महानात्मा देवता, स सूर्य इत्याचक्षते, स हि सर्वभूतात्मा।' ऋक्सर्वानुक्रमणी।

३. इसीलिये ऋग्वेद के आरम्भ में 'अग्नि' पद का ही निर्देश किया है।

उसे अनेक नामों से स्मरण करते हैं। इसका निर्देश भगवती श्रुति में भी उपलब्ध होता है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥[1]
ऋ० १।१६४।४६॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ शु० यजु० ३२।१॥

इन श्रौत प्रमाणों के अनुसार वेद में इन्द्र वरुण आदि जितने नाम प्रयुक्त हुए हैं, वे सब आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार एक ही महानात्मा के वाचक हैं।[2] इसलिये वेद में जितने भी देवतावाचक पद हैं, आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार उन सबका अर्थ ब्रह्म ही होगा।

याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ से पराहत बुद्धिवाले समझते हैं कि वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ (=कर्मकाण्ड) ही है, अध्यात्म विषय तो उपनिषदों का है[3]

---

१. इस मन्त्र में इन्द्र मित्र आदि पद केवल एक बार प्रयुक्त हुए हैं, और 'अग्नि' पद दो बार। इससे स्पष्ट है कि अग्नि पद में उद्देश्यता है, और इन्द्र मित्र आदि में विधेयता। कात्यायन ने एक महानात्मा का नाम 'सूर्य' लिखकर उसी की विभूतियां अन्य देव हैं. इसके प्रतिपादन के लिये यही मन्त्र उद्धृत किया है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि इस मन्त्र में साक्षात् 'सूर्य' का निर्देश ही नहीं है। यदि 'सुपर्ण' को सूर्य का वाचक मान भी लें, तब भी उसमें मन्त्रनिर्देशानुसार उद्देश्यता नहीं है, विधेयता है। आधुनिक सदैक्यवादी इस मन्त्र के 'सत्' शब्द में उद्देश्यता, और इन्द्र आदि के समान अग्नि में भी विधेयता मानते हैं, वह भी ठीक नहीं है। अग्नि पद का दो बार प्रयोग होने से उसमें विधेयता किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती। अतः 'एकं सद् अग्नि विप्रा बहुधा वदन्ति' यही अन्वय होगा।

२. मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है—'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥' १२।१२३॥

३. 'तस्मिश्च वेदे द्वौ काण्डौ—कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्याख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डः, तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्रोभयत्राग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपादितत्वात्।' काण्वसंहिता सायण-भाष्योपक्रमणिका (काशी संस्करण, पृष्ठ १०६)। इस लेख में सायण ने सम्पूर्ण

(ईशावास्य अध्याय को भी उपनिषद् संज्ञा होने से उसे उपनिषदों में ही गिनते हैं)। यह धारणा सर्वथा मिथ्या है। आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार सम्पूर्ण वेद का प्रतिपाद्य विषय एकमात्र ब्रह्म है। इस विषय में हम कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं—

'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि च सर्वाणि यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।।'

कठो० १।१५।।

इससे स्पष्ट है कि सम्पूर्ण वेद का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय 'ओम्' है। इसी कठ श्रुति की प्रतिध्वनि गीता के निम्न श्लोक में सुनाई पड़ती है—

'यदक्षरं ब्रह्मविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।' ८।११।।

यही तत्त्व गीता में अन्यत्र भी प्रकट किया है—

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ।' १५।१५।।

भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास अपने पुत्र शुकदेव को अध्यात्मविद्या का उपदेश करके अन्त में कहते हैं—

'दशेदमृक्सहस्राणि निर्मथ्यामृतमद्भुतम् ।
नवनीतं यथा दध्नः काष्ठादग्निर्यथैव च ।
तथैव विदुषां ज्ञानं पुत्रहेतोः समुद्धृतम् ।।'

महाभारत शान्ति० २४६।१४, १५।।

अर्थात् जैसे दही को मथकर मक्खन निकाला जाता है, या लकड़ियों को रगड़ कर अग्नि को प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार दश सहस्र ऋचाओं को मथकर मैंने यह अध्यात्म ज्ञान निकाला है।

व्यास जी ने यहां जो उपमाएं दी हैं, वे विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इन उपमाओं से स्पष्ट है कि जैसे दही के प्रत्येग भाग में नवनीत सूक्ष्म रूप से विद्यमान है और जैसे काष्ठ के प्रत्येक अवयव में अग्नि सूक्ष्म रूप से विद्यमान है, वैसे ही दश सहस्र ऋचाओं (के समूह ऋग्वेद) की प्रत्येक ऋचा में सूक्ष्मरूप से अध्यात्म ज्ञान निहित

यजुर्वेद में कर्मकाण्ड का ही प्रतिपादन माना है। इसी प्रकार अन्य वेदों के लिये भी समझना चाहिये। यह निदर्शनमात्र है।

है। इस तथ्य को स्वीकार किये विना दोनों उपमाएं व्यर्थ हो जाती हैं—

महाभारत शान्तिपर्व २६३, १९-२० में इसी तत्त्व का उपदेश इस प्रकार किया है —

ब्राह्मं वेदमधीयन्तस्तोषयन्त्यपरानपि।
अखिलं दैवतं सर्वं ब्रह्म ब्रह्मणि श्रितम्॥

ऋक्सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन ने भी लिखा है—

ओङ्कारः सर्वदेवत्यः पारमेष्ठ्यो वा ब्राह्मो दैव आध्यात्मिकः।

अर्थात् अध्यात्म में सब ऋचाओं का ओङ्कार देवता है; अथवा परमेष्ठी वा ब्रह्म।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों के मत में वेद के प्रत्येक मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ हो सकता हैं। इसी भाव को स्कन्दस्वामी ने निरुक्तटीका में यास्क का प्रमाण देकर इस प्रकार दर्शाया है—

सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्। निरुक्त टीका ७।५॥

अर्थात्—अध्यात्म, नैरुक्त तथा याज्ञिक तीनों प्रक्रियाओं में सब मन्त्रों की योजना करनी चाहिये, क्योंकि भाष्यकार (यास्क) ने स्वयं सब मन्त्रों का विषय तीन प्रकार का हैं, यह दर्शाने के लिये यज्ञ दैवत और अध्यात्म को वेदवाणी के पुष्प और फल कहा है।

हरिस्वामी श० ब्रा० भाष्य के प्रथम काण्ड के आरम्भ में लिखता है—

मन्त्रा आधियाज्ञिका इषे त्वादयः, त एव देवतापदत्वेनाधिदैविकाः, त एवात्मानमधिकृता आध्यात्मिकाः। इषे त्वादयस्त्वाध्यात्मिका एव। (हमारा हस्तलेख पृ० ६)।

आचार्य भर्तृहरि ने भी महाभाष्य की व्याख्या में प्रसङ्गवश लिखा है—

यथा इदं विष्णुर्विचक्रमे इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन् अधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं चात्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्तते। महाभाष्यदीपिका पृष्ठ २६८, हमारा हस्तलेख।

अर्थात् 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इस मन्त्र में एक विष्णु शब्द ही अनेक अर्थों का

वाचक होने से अधिदैवतप्रक्रिया में आत्मा (=सूर्य, 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च') अध्यात्म में नारायण और अधियज्ञ में चषाल (=यूप के ऊपर का ढक्कन) को कहता है।

इससे स्पष्ट है कि वेद के समस्त देवतावाचक पद विविध प्रक्रियाओं में अर्थों को कहने में पूर्ण समर्थ हैं। अतः वेद के प्रत्येक देवतावाचक पद का अध्यात्म प्रक्रिया-परक अर्थ हो सकता है।

इतना ही नहीं, वेद के अनेक मन्त्रों में अग्नि आदि के कतिपय ऐसे विशिष्ट विशेषण प्रयुक्त हैं, जो अभिधावृत्ति से केवल अध्यात्म प्रक्रिया में ही उपपन्न हो सकते हैं। यथा—'कविमग्निमुपस्तुहि' (ऋ० १।१२।७) में अग्नि का कवि विशेषण। भौतिक अग्नि का कवि विशेषण विना लक्षणा के कभी उपपन्न नहीं हो सकता।

अनेक अध्यात्मदर्शनविहीन पण्डितम्मन्य आशंका करते हैं कि भला अन्त्येष्टि में विनियुक्त मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ कैसे होगा? ओषधि आदि भौतिक पदार्थों के वाचक पद अध्यात्मप्रक्रिया में कैसे संगत होंगे?

इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस प्रकार की शङ्का करनेवाले महानुभावों को अध्यात्म शब्द का वास्तविक अर्थ ही ज्ञात नहीं है। ये लोग अध्यात्म का अर्थ केवल ब्रह्म का प्रतिपादन मात्र समझ बैठे हैं। हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि अध्यात्म शब्द का अर्थ है—शरीर, जीव और ईश्वर सम्बन्धी विज्ञान का प्रतिपादन। इस दृष्टि से विचार करने पर अन्त्येष्टि मन्त्रों में शरीर और जीव का साक्षात् वर्णन होने से उनका प्रतिपाद्य विषय तो अध्यात्म के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं। संसार के समस्त पदार्थ जीवों के सुख के लिये रचे गये हैं, अतः सांसारिक पदार्थों के गुणवर्णन द्वारा उनके सदुपयोग का विधान करना भी आत्मकल्याणार्थ ही है। ओषधियों का तो शरीर के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, उनके सेवन द्वारा शरीर निरोग रहता है और उस नैरोग्य से आत्मा को सुख मिलता है। इसलिये ओषधि विज्ञान के मन्त्रों का शरीर से साक्षात् और आत्मा के साथ परम्परा से सम्बन्ध विस्पष्ट है। इस प्रकार वेद के सभी मन्त्रों का शरीर आत्मा और परमात्मा के साथ साक्षात् या परम्परा से सम्बन्ध होने से उनका आध्यात्मिक अर्थ होने में कोई कठिनाई ही नहीं है। कठिनाई तो तब होती है जब आध्यात्मिक का अर्थ केवल परमात्मा सम्बन्धी समझा जाये।

इतना ही नहीं, जिन मन्त्रों का यज्ञ में विनियोग है. उनका तो आध्यात्मिक अर्थ अवश्य स्वीकार करना होगा, क्योंकि वैदिक परम्परा के अनुसार यज्ञ ब्रह्माण्ड और

पिण्ड के प्रतिनिधि हैं, यह हम पूर्व कह चुके हैं। शतपथकार याज्ञवल्क्य ने भी दर्श-पौर्णमास की आध्यात्मिक व्याख्या करके अन्त में लिखा है—

तदाहुः—आत्मयाजी श्रेयाउन् देवयाजी ३ इति । आत्मयाजीति ब्रूयात् । स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते, इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयत इति । शत० ११।२।६।१३॥

अर्थात् देवयाजी और आत्मयाजी में आत्मयाजी श्रेष्ठ है। आत्मयाजी उसको कहते हैं जो यज्ञ करते हुए जानता है कि यज्ञ की किस क्रिया से मेरे शरीर का कौन सा अङ्ग संस्कृत हो रहा है वा वृद्धि को प्राप्त हो रहा है।

इससे स्पष्ट है कि यज्ञों में विनियुक्त तत्तन्मन्त्रों का सम्बन्ध अध्यात्म प्रक्रिया में शरीर के विभिन्न अङ्गों के साथ है। इसलिये जब यज्ञक्रिया का ही अध्यात्म में पर्यवसान हो जाता है, तब यज्ञों में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थों का भी अध्यात्म-प्रक्रिया में पर्यवसान होना अवश्यंभावी है।

इस विवेचना से यह भी व्यक्त है कि जो लोग वेद को केवल यज्ञ कर्म के लिये ही मानते है,[1] वे वस्तुतः यज्ञ कर्म के मर्म को भी नहीं जानते।

आध्यात्मिक प्रक्रिया में परिवर्तन

जिस प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया में उत्तरोत्तर अनेक परिवर्तन हुए, उसी प्रकार वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया में भी महान् परिवर्तन हुए।

सबसे प्रथम अध्यात्म प्रक्रिया से शरीर विज्ञान का सम्बन्ध छूटा, तदनन्तर आत्मविज्ञान का नाता टूटा और अध्यात्म का अर्थ केवल परमात्मचिन्तन रह गया। इस परिवर्तन का प्रभाव उपनिषदों में भी स्पष्ट लक्षित होता है। ईश कठ आदि उपनिषदों में शरीर, आत्मा और परमात्मा तीनों का वर्णन मिलता है, मुण्डक में आत्मा और परमात्मा दो का ही उल्लेख है और माण्डूक्य में अकेले ब्रह्म का ही प्रतिपादन है[2]। हमारे विचार में यही एकाङ्गी ब्रह्मविचार उत्तरकाल में अद्वैतवाद के रूप में परिणत हो गया।

इस परिवर्तन का प्रभाव वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया पर भी पड़ा। उत्तर-

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ६० की टिप्पणी २ तथा पृष्ठ १०५ की टिप्पणी ३ में सायण का लेख। इस विषय में जो सायण का मत है, वही सभी याज्ञिकों का है।

२. यदि इस उपनिषद् में ब्रह्म शब्द से जीव का भी ग्रहण माना जाये तो इसमें जीव और ईश्वर दोनों का निर्देश होगा।

काल में 'मन्त्र के अर्थ में येन केन प्रकारेण ईश्वर का सम्बन्ध जोड़ देना' आध्यात्मिक अर्थ समझा जाने लगा। मध्वाचार्य तथा उनके सम्प्रदाय के विद्वानों के किये वेदभाष्य इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसी प्रकार आर्यसमाज के विद्वान् भी मन्त्रार्थ के प्रारम्भ में 'हे ईश्वर' ऐसा सम्बोधनमात्र करके अपने को वेद के आध्यात्मिक भाष्यकार समझते हैं।

वेद का कर्मकाण्ड के साथ विशेष सम्बन्ध हो जाने से अथवा 'वेद केवल यज्ञों के लिये प्रवृत्त हुए हैं' ऐसी मिथ्या धारणा बन जाने से शनैः-शनैः वेद का अध्यात्म विद्या से सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया, और जैसे याज्ञिक प्रक्रिया में शनैः-शनैः वेद की मुख्यता नष्ट होकर ब्राह्मण ग्रन्थ मुख्य बन गये, उसी प्रकार आध्यात्म विद्या का वेद से सम्बन्ध छूट जाने पर उपनिषदें ही अध्यात्म विद्या के मुख्य ग्रन्थ बन गये। इसी कारण उत्तरकाल (द्वापर के चतुर्थ चरण) में वेद की अपरा विद्या में गणना होने लगी[1]। तदनन्तर उपनिषदों की प्रधानता से लाभ उठाकर उनके नाम पर अनेक ऐसी पुस्तकों की रचना हुई, जिनमें अध्यात्म विद्या का लेश भी नहीं है। रामतापिनी आदि शतशः नामधारी उपनिषदें इसी प्रकार की हैं। और तो और मुस्लिम सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखनेवाली एक अल्लोपनिषद् भी कल्पित कर ली गई।

जिस प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया में शनैः-शनैः वेद मन्त्र अनर्थक=अर्थ-रहित बन गये उसी प्रकार आध्यात्मिक प्रक्रिया में भी मन्त्र अनर्थक समझे जाने लगे। इसी कारण मन्त्र के जपमात्र को प्रधानता प्राप्त हुई अर्थात् मन्त्र का अभिप्राय समझो वा मत समझो, केवल उसके जप से ही कल्याण हो जायेगा, ऐसी भावना का उदय हुआ। उत्तरकाल में वैदिक मन्त्रों का जप भी छूट गया उनका स्थान 'राधाकृष्णाभ्यां नमः' 'सीतारामाभ्यां नमः' आदि साम्प्रदायिक मन्त्राभासों तथा राम कृष्ण आदि नामों के जप ने ले लिया। अन्त में नाम जप का माहात्म्य इतना बढ़ा कि उलटे नाम के जप से भी कल्याण समझा जाने लगा। लोक में प्रसिद्धि है कि वाल्मीकि राम राम के स्थान पर मरा मरा जप कर ही प्रभु के भक्त बन गये[2]। इसी प्रकार वेद के 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया[3]' आदि मन्त्रों में जीव और

---

१. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डक १।१।५॥

२. उलटे नाम जपत जग जाना, बालमीकी भये ब्रह्मसमाना।

३. ऋग्वेद १।१६४।२०॥

ब्रह्म के जिस नाम साम्यरूपी 'समान-ख्यानत्व'[1] का उल्लेख हुआ है, उसका भाव न समझकर वल्लभ आदि सम्प्रदायों में गोपी-कृष्ण आदि की रासलीला का उदय हुआ।

इस प्रकार अत्यन्त उच्चकोटि के अध्यात्म-विचार का परिवर्तन होते-होते उसका कितना निष्कृष्ट स्वरूप बन गया, यह इस विवेचन से स्पष्ट है।

५—ऐतिहासिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

जिस समय वेदार्थ का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का लोप हो रहा था, उस समय वेदार्थ की एक नई प्रक्रिया का उदय हुआ। उसका नाम है—ऐतिहासिक प्रक्रिया।

ऐतिहासिक प्रक्रिया की उत्पत्ति का कारण

जब रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि के कारण मनुष्यों की बुद्धि मन्द होने लगी, वे वेद के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक गूढ़ तत्त्व साक्षात् समझने में असमर्थ होने लगे, तब ऋषियों ने मन्त्रगत गूढ़ तत्त्वों को समझाने के लिये मन्त्रगत पदों के आश्रय से तद्विषक आख्यायिकाओं की कल्पना की। यास्क ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन निरुक्त में दो बार किया—

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता। १०।१०,४६॥

अर्थात्—अर्थ के साक्षात् कर्त्ता ऋषि की आख्यान से संयुक्त करके [कहने की] प्रीति होती है।

इस प्रकार इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के उद्भव का मूल आधार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियाएं ही हैं।

इतिहास शब्द का अर्थ

इतिहास शब्द का मूल अर्थ है 'इति+ह+आस' अर्थात् ऐसा ही था। इसी अर्थवाला इतिहास शब्द भूतकाल की सत्य घटना का वर्णन करता है। परन्तु गौणी वृत्ति से इस इतिहास शब्द का व्यवहार उन काल्पनिक पशु-पक्षियों की आख्या-

---

१. सखा शब्द का अर्थ है समान-ख्यान (निरुक्त ७।३०) अर्थात् समान नामवाले। आत्मा, ब्रह्म, यक्ष, हंस आदि अनेक नाम जीव और ईश्वर दोनों के समान हैं। इसलिये जीव से ईश्वर को पृथक् करने के लिये इन्हीं में परम बृहत्, महत्, ख, व्योमन् आदि विशेषण लगाये जाते हैं।

यिकाओं के लिए भी होता है, जिनका वर्णन 'अथाप्युदाहरन्तीमम् इतिहासं पुरातनम्' कहकर भूतकालिक घटनाओं के रूप में किया जाता है। इसी प्रकार की काल्पनिक कहानियों के लिये इतिहास शब्द का प्रयोग रामायण महाभारत आदि ग्रन्थों में बहुत पाया जाता है। इसलिए किसी भी ग्रन्थ में इतिहास पद के उपलब्ध होने मात्र से उसे भूतकाल की वास्तविक घटना नहीं समझ लेना चाहिये। सबसे प्रथम यह विचारना चाहिये कि यह इतिहास शब्द यहां पर मुख्यार्थ में प्रयुक्त हुआ है वा गौणार्थ में अर्थात् सत्य घटना के लिये प्रयुक्त हुआ है अथवा काल्पनिक वर्णन के लिये।

वेद और इतिहास

समस्त प्राचीन संस्कृत वाङ्मय चाहे वह वैदिक हो, वा दार्शनिक, वैज्ञानिक हो वा लौकिक, सभी एक स्वर से वेद को अपौरुषेय अथवा महाभूत[1]-निःश्वसित कहते हैं, परन्तु इन्हीं ग्रन्थों में वेदार्थ से सम्बद्ध इतिहास आख्यान आदि पदों का असकृत् निर्देश उपलब्ध होता है। निरुक्त में कई स्थानों पर मन्त्रार्थ दर्शाने से पूर्व "तत्रेतिहासमाचक्षते" का प्रयोग मिलता है[2]। भगवान् वेद व्यास ने तो स्पष्ट घोषणा कर दी है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। आदिपर्व १।२६७॥

इसलिए यह विचारणीय हो जाता है कि वेदार्थ विषयक 'इतिहास' पद का क्या अर्थ है? क्या वस्तुतः वेद में ऐतिहासिक व्यक्तियों, नगरों, नदियों, पर्वतों का वर्णन है वा एतद्विषयक इतिहास पद गौणी वृत्ति से मन्त्र के किन्हीं पदों के आधार पर कल्पित आख्यायिकाओं के वाचक हैं। इस बात का निर्णय करने के लिए हमें इन्हीं ग्रन्थों को टटोलना होगा और उन्हीं के आधार पर इस 'इतिहास' पद के वास्तविक अभिप्राय को समझाने की चेष्टा करनी होगी।

यास्कीय निरुक्त में 'इतिहास' और 'आख्यान' दो पदों का एकार्थ में प्रयोग उपलब्ध होता है। निरुक्त के अनुशीलन से विदित होता है कि उसमें प्रयुक्त 'इतिहास' और 'आख्यान' पद वास्तविक (सत्य) इतिहास के वाचक नहीं हैं।

निरुक्तकार यास्क ने 'त्वष्टा दुहित्रे' (ऋ० १०।१७।१) मन्त्र के उपक्रम में

---

१. महाभूत शब्द ज्येष्ठ ब्रह्म परमात्मा का वाचक है। एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो ·· । शत० १४।५।४।१०॥

२. यथा २।१०॥२।२४॥ इत्यादि।

'तत्रेतिहासमाचक्षते' लिखकर मन्त्रार्थ का उपसंहार "महतो जाया विवस्वतो ननाश, रात्रिरादित्यस्य, आदित्योदये अन्तर्धीयते" पदों से किया है। इससे स्पष्ट है कि यास्क द्वारा यहां प्रयुक्त इतिहास पद किसी वास्तविक ऐतिहासिक घटना का वाचक नहीं है, अपितु मन्त्रप्रतिपादित अहोरात्र-विज्ञान को सुगमता से समझाने के लिए मन्त्रार्थ से पूर्व लिखी गई काल्पनिक आख्यायिका का बोधक है। अन्यथा उपक्रम और उपसंहार में एकवाक्यता नहीं बन सकती। द्र०—निरुक्त १२।१०, ११॥

यास्क ने मन्त्रार्थ से पूर्व इस प्रकार के काल्पनिक इतिहास वा आख्यायिका के लिखने का प्रयोजन दो स्थानों पर इस प्रकार स्पष्ट किया है—

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता।

निरुक्त १०।१०,४५॥

अर्थात् मन्त्रार्थ-द्रष्टा ऋषि की स्वदृष्ट मन्त्रार्थ को समझाने के लिए उसे कथा से संयुक्त करके कहने में प्रीति होती है। यही अभिप्राय निरुक्त के टीकाकार दुर्ग ने इतिहास शब्द के अर्थ का निरूपण करते हुए इस प्रकार लिखा है—

यः कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वाऽर्थ आख्यायते दिष्टयुदितार्थविभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। निरुक्त टीका १०।२६, पृष्ठ ८५८ (आनन्दाश्रम संस्करण)। अर्थात् जो कोई भी आध्यात्मिक आधिदैविक अथवा आधिभौतिक अर्थ भाग्य से बुद्धि में प्रकट हुआ, उसे प्रकट करने के लिये जो कथन होता है, वह इतिहास कहाता है।

मनुष्य का स्वभाव है कि जब उसे किसी विषय का अपूर्व ज्ञान होता है, तब उसे दूसरों पर प्रकट करने के लिए उसके मन में एक प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न होती है। जब तक वह उस अपूर्वज्ञान को दूसरों पर प्रकट नहीं कर देता, तब तक उसके मन को शान्ति नहीं होती। इसी मनुष्य स्वभाव के अनुसार जब किसी ऋषि को किसी मन्त्र के अपूर्व अर्थ का प्रतिभान होता है, तब वह उसे प्रकट करने के लिये आतुर हो जाता है। यतः वह विज्ञान अतिशय गूढ़ होता है, उसे सीधे-साधे शब्दों में कहने मात्र से वह साधारण व्यक्ति को हृदयङ्गम नहीं हो सकता, अतः उसे हृदयङ्गम कराने के लिये उसमें नमक मिर्च मसाला लगाकर अर्थात् आख्यायिका का रूप देकर कहने की इच्छा होती है। इसी भाव से भगवान् वेदव्यास ने भी 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' में 'समुपबृंहयेत्' पद का निर्देश किया है। अर्थात् वेद के गूढ़ अभिप्राय को हृदयङ्गम कराने के लिये वेदार्थानुकूल किसी आख्यायिका का आश्रयण लेना ही होगा और उस वेदार्थानुकूल आख्यायिका की कल्पना बिना पुरातन

इतिहास जाने नहीं हो सकती और उसके विना मन्त्रार्थ में रोचकता तथा सरलता नहीं आ सकती। अतः वेदार्थ का बोध कराने के लिये पुरातन इतिहास का जानना अत्यन्त आवश्यक है।

वेद में अनेक ऐसे वर्णन उपलब्ध होते हैं, जो आपाततः ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में वह ऐतिहासिक रूप के नहीं होते। यथा वेद का इन्द्र-वृत्र-युद्ध।

यास्क ने निरुक्त २।१६ में इन्द्र वृत्र युद्ध प्रतिपादक एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

अपां ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते, तत्रोपमार्थेन युद्ध-वर्णा भवन्ति।

अर्थात् मेघस्थ जल के साथ विद्युत् का सम्बन्ध होने से वृष्टि होती है, वेद में एतद्विषयक जो इन्द्र वृत्र युद्ध का वर्णन है, वह उपमारूप से है। अर्थात् इन्द्रनाम विद्युत् का है और वृत्र नाम मेघ का। विद्युत् का मेघ पर प्रहार होने से वह छिन्न-भिन्न होता है, और उससे वृष्टि होती है।

इसके आगे यास्क ने इसी मत को स्पष्ट करने के लिए लिखा है—

अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्धया शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिर आपः। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति दासपत्नीरहिगोपा……।

अर्थात् इन्द्र वृत्र का वर्णन मन्त्रों और ब्राह्मणों में अहि=मेघ के समान उपलब्ध होता है। अहि (मेघ) शरीर को बढ़ा कर जल के स्रोतों को रोक देता है। उसके हत होने=नष्ट होने पर जल गिर पड़ते हैं। इसी 'अहिवत्तु खलु……… तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिर आपः' अर्थ को कहनेवाली अगली 'दासपत्नीरहिगोपाः' ऋचा होती है।

इस प्रसङ्ग से स्पष्ट है कि यास्क के मत में मन्त्र प्रतिपादित इन्द्रवृत्र युद्ध वस्तुतः ऐतिहासिक घटना नहीं है, अपि तु वह इस जगत् में सदा होनेवाली वर्षा की घटना है। युद्ध का वर्णन तो औपमिक है।

मन्त्रों में इतिहास की कल्पना का एक उदाहरण

मन्त्रों में किसी प्रकार का इतिहास न होते हुए भी उत्तरकालीन आचार्यों ने

प्ररोचना के लिये किस प्रकार इतिहास की कल्पना की, इसका हम एक विस्पष्ट उदाहरण नीचे देते हैं—

ऋग्वेद ८-३-२१ का मन्त्रांश है—"पाकस्थामा कौरयाणः"। इसमें 'कौरयाण' पद विवेचनीय है। निघण्टु के प्रवक्ता (चाहे वह यास्क हो, चाहे अन्य प्राचीन व्यक्ति) ने इस मन्त्र के 'कौरयाण' पद को अनवगत संस्कार (जिसके प्रकृति प्रत्यय विभाग का सरलता से ज्ञान न हो) समझकर निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में पढ़ा।[1] यास्क ने इस अनवगत संस्कार पद का अर्थ "कृतयान" किया है[2] अर्थात् जिसने शत्रु के ऊपर चढ़ाई की हो ऐसा व्यक्ति। इस से स्पष्ट है कि निरुक्तकार यास्क "कौरयाण" का अर्थ 'कुरयाणस्यापत्यम्' नहीं समझता। यदि निघण्टु का प्रवक्ता यास्क से भिन्न कोई व्यक्ति हो तो मानना होगा कि वह भी 'कौरयाण' पद का अर्थ 'कुरयाणस्यापत्यम्' नहीं समझता था, क्योंकि 'कुरयाणस्यापत्यम्' अर्थ मानने पर 'कौरयाण' पद अन्य औपगव आदि अपत्य-प्रत्ययान्तों के समान विस्पष्ट अपत्यार्थ का बोधक होगा, अनवगत संस्कार नहीं रहेगा। अस्तु, निघण्टु और निरुक्त के पाठ से यह स्पष्ट है कि इन दोनों के प्रवक्ता 'कौरयाण' पद का ऐतिहासिक व्यक्तिपरक 'कुरयाणस्यापत्यम्' अर्थ नहीं समझते थे। दूसरे शब्दों में इनके प्रवचन काल तक इस पद का ऐतिहासिक अर्थ नहीं किया जाता था।

निरुक्त के पश्चाद्वर्ती आचार्य शौनक ने बृहद्देवता (६।४२) में लिखा है—

पाकस्थाम्नस्तु भोजस्य चतुर्भिर्यमिति स्तुतम्।

अर्थात् ऋ० मं० ८, सू० ३, मं० २१-२४ तक का देवता 'पाकस्थामा भोज' की दानस्तुति है।

आचार्य शौनक ने 'पाकस्थामा' पद को तो व्यक्तिपरक बना दिया, परन्तु 'कौरयाण' पद को नहीं छुआ। सम्भव है, उसे यास्क का 'कृतयान' अर्थ स्मरण रहा हो। अतएव उसे 'कौरयाण' पद में अपत्यार्थ की गन्ध भी नहीं आई। यदि वह 'कौरयाण' पद को अपत्यप्रत्ययान्त समझता तो वह स्पष्ट लिखता कि इन मन्त्रों में 'कुरयाण के पुत्र पाकस्थामा के दिये दान का वर्णन' है।

---

१. यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामोऽनवगतसंस्कारांश्च निगमान्। निरुक्त ४।१॥

२. कौरयाणः कृतयानः—पाकस्थामा कौरयाण इत्यपि निगमो भवति। निरुक्त ५।१५॥

शौनक की इतिहास कल्पना में रही सही न्यूनता की पूर्ति शौनक के शिष्य[1] कात्यायन ने कर दी। उसने स्पष्ट लिख दिया—

अन्त्याः कौरयाणस्य पाकस्थाम्नो दानस्तुतिः। ऋक्सर्वा०।

अर्थात्—अन्त्य की चार ऋचाएं—कुरयाण के पुत्र पाकस्थामा नाम राजा की दानस्तुतियां हैं।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि निघण्टु के प्रवक्ता तथा निरुक्त के प्रवक्ता यास्क के मत में 'पाकस्थामा कौरयाणः' मन्त्र में कोई पद व्यक्तिविशेष का वाचक नहीं है, परन्तु यास्क से उत्तरवर्ती बृहद्देवताकार शौनक ने 'पाकस्थामा' पद को व्यक्ति-विशेषवाचक बना दिया। उससे भी उत्तरवर्ती कात्यायन ने पाकस्थामा के साथ साथ 'कौरयाण' पद को भी अपत्यार्थवाचक बनाकर पुरा ऐतिहासिक प्रसाद खड़ा कर दिया और उसके पश्चात् यह समझा जाने लगा कि इन मन्त्रों में किसी कुरयाण के पुत्र पाकस्थामा नाम के राजा के दिये दान की स्तुति मेधातिथि काण्व ने की है।

कौरयाण पद वस्तुतः अप्रत्ययप्रत्ययान्त नहीं है

निघण्टु में 'कौरयाण' पद के साथ 'तौरयाण' 'अह्रयाण' और 'हरयाण' ये तीन अनवगत संस्कारपद और पढ़े हैं। चारों में 'यान' उत्तरपद समान है और चारों में बहुव्रीहि समास का पूर्वपदप्रकृतिस्वर विद्यमान है[2]। इसलिये यास्क ने इन चारों का अर्थ क्रमशः 'कृतयान' 'तूर्णयान' 'अह्रीतयान' और 'ह्रियमाणयान' किया है। यदि कथंचित् कौरयाण पद में अपत्यार्थ की कल्पना की भी जाये तो भी वह ठीक नहीं होगी, क्योंकि कौरयाण के सर्वथा समान 'तौरयाण' पद जिस मन्त्र[3] में आया है, उसमें अपत्यार्थ (तुरयाण का पुत्र) कथंचित् भी उपपन्न नहीं हो सकता।

---

१. ननु एको हि शौनकाचार्यशिष्यो भगवान् कात्यायनः, कथं बहुवचनम्। ऋक्सर्वा० टीका, षड्गुरुशिष्य।

२. निरुक्त ५।१५ में 'तौरयाण' पद का जो निगम उद्धृत किया है, उसमें तौर-याण पद पूर्वपद अन्तोदात्त उपलब्ध होता है। परन्तु निघण्टु में 'तौरयाण' पद पूर्वपदाद्युदात्त पढ़ा है और दुर्गटीका के पाठ में सर्वत्र पूर्वपद आद्युदात्त ही मिलता है। अतः निश्चय ही मूल निरुक्त के मन्त्र पाठ के स्वर में अशुद्धि हुई है। कौरयाण पद भी पूर्वपदाद्युदात्त है। इससे भी तौरयाण पद के पूर्वपदाद्युदात्त स्वर की पुष्टि होती है।

३. जातं यत्त्वा परि देवा अभूषन्महे भराय पुरुहूत विश्वे। स तौरयाण उप याहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सजोषाः। दुर्गटीका ६।१५ में उद्धृत।

कौरयाण और तौरयाण पद समस्त उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में एक ही स्थान पर प्रयुक्त हैं, अतः स्थानभेद से भी अर्थभेद की कल्पना उपपन्न नहीं हो सकती।

इससे व्यक्त है कि 'कौरयाण' पद का मूल अर्थ 'कुरयाण का अपत्य' नहीं है। यह अर्थ प्ररोचना के लिये पीछे से कल्पित किया गया है।[१]

इस प्रकार यह विस्पष्ट है कि प्रारम्भिक काल में वेदार्थ की ऐतिहासिक प्रक्रिया के मूल में किन्हीं वास्तविक ऐतिहासिक घटनाओं का सम्बन्ध नहीं समझा जाता था। शनैः शनैः इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में भी परिवर्तन हुआ। वेदार्थ को समझाने के लिये उद्भावित सर्वथा काल्पनिक आख्यानों में लौकिक ऐतिह्य का विशेष रूप से सम्मिश्रण होने लगा। उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक ऐसे निर्देश मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस काल में अनेक आचार्य वेद का अर्थ लौकिक ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर करने लग गये थे। निरुक्त में 'तत्रेतिहासमाचक्षते' का जिस ढङ्ग से प्रयोग उपलब्ध होता है उससे भी यही जाना जाता है कि निरुक्त के प्रवचन काल में यह काल्पनिक वाद सत्य ऐतिहासिकवाद का रूप ग्रहण कर रहा था। जैमिनि ने विशेषरूप से और यास्क ने सामान्य रूप से इस सत्य ऐतिहासिक वाद का खण्डन किया है। देखो पूर्वमीमांसा १।१।२७-३२ तथा निरुक्त २।१६॥

शतपथ ब्राह्मण में भी एक स्थान पर वेद में वर्णित देव और असुर और असुरों की पराजय को लौकिक ऐतिहासिक देवासुर संग्राम से भिन्न कहा है। यथा—

तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यते इतिहासे त्वत्। शतपथ ११।१।६।९॥

अर्थात् ऊपर प्रतिपादित देव असुर और उनका वृत्त वह नहीं है जो अन्वाख्यान में कहा जाता है वा इतिहास में कहा जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी प्राचीन संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि वेद के जो अनेक शब्द उत्तर काल में व्यक्तिविशेष के वाचक समझे जाने लगे, वे प्राचीन काल में व्यक्ति विशेष के वाचक नहीं समझे जाते थे। यथा—

१—यजुः १३।५४ में श्रूयमाण 'वसिष्ठ' पद के व्याख्यान में—प्राणो वै वसिष्ठः। शत० ८।१।१।६॥

---

१. इस दानस्तुति पर तथा एतत् सदृश अन्य कतिपय दानस्तुतियों पर हमने 'ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार' नामक निबन्ध में किया है।

२—यजुः १३।५६ में श्रूयमाण 'जमदग्नि' पद के व्याख्यान में—चक्षुर्वै जमदग्निऋर्षिर्यदेनेन जगत् पश्यति, अथो मनुते। शत० ८।१।२।३॥

३—यजुः १३।५७ में श्रूयमाण 'विश्वामित्र' पद के व्याख्यान में—'श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदेनेन सर्वतः शृणोति, यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति। शत० ८।१।२।३॥

अर्थात् यजुर्वेद के इन मन्त्रों में प्रयुक्त वसिष्ठ जमदग्नि और विश्वामित्र पद क्रमशः प्राण, चक्षु और श्रोत्र के वाचक हैं।[1]

यद्यपि यास्क, जैमिनि और याज्ञवल्क्य ने वेद में सत्य इतिहास मानने का प्रतिवाद किया है, तथापि उत्तर काल में यह वाद बहुत प्रबल हो गया। अत एव जिस प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया से पराभूत होकर दुर्ग स्कन्द आदि नैरुक्त आचार्यों ने निरुक्तान्तर्गत मन्त्रों की व्याख्या याज्ञिक प्रक्रियानुसार की, उसी प्रकार इस इतिहासवाद से पराभूत होकर इन्हीं निरुक्तटीकाकारों ने सिद्धान्तरूप से ऐतिह्यवाद का खण्डन करते हुए भी मन्त्रों की व्याख्या इस इतिहासवाद को मानकर ही की है। यही दशा याज्ञिकप्रक्रियानुगामी स्कन्द, वेङ्कट माधव, भट्टभास्कर और सायण आदि वेदभाष्यकारों की हुई। उन्होंने भी पदे पदे याज्ञिक प्रक्रिया का उल्लङ्घन करके मन्त्रों की ऐतिहासिक व्याख्या की है। सायण ने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में इतिहास का खण्डन तो किया, पर वेदभाष्य करते हुए वह उसे छोड़ नहीं सका।

जिस प्रकार वेदार्थ की अन्य प्रक्रियाओं की अन्त में दुर्गति हुई, उसी प्रकार इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की भी महती दुर्गति हुई। मन्त्रों में शाब्दिक समानता को लेकर वेद में विभिन्न व्यक्तियों के चरित्रों की खोज होने लगी, और नाम मात्र की समानता से अनेक काल्पनिक इतिहास लिखे गये। इस प्रकार की ऐतिहासिक प्रक्रिया के उत्कृष्ट उदाहरण 'मन्त्ररामायण' और 'मन्त्रभागवत' ग्रन्थ हैं।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को पौरुषेय ग्रन्थ मानकर उनमें प्राचीन भौगोलिक तथा मानवीय इतिहास खोजने का बड़ा भारी प्रयत्न किया है। हम समझते हैं कि प्राचीन काल में वेद में वास्तविक इतिहास माननेवाले व्यक्तियों ने भी इस विषय में इतना महान् प्रयास नहीं किया था, क्योंकि उस समय का सत्य इतिहासवाद भी प्राचीन काल्पनिक इतिहासवाद का एक परिवर्तित रूप था। यदि

---

१. तुलना करो—बृहदारण्यक २।२।४ में इन्द्रियों के लिये प्रयुक्त गोतम भारद्वाज आदि पदों के साथ।

उस समय सत्य इतिहासवाद की इतनी प्रबलता होती, जितनी कि आज है, तो वेद के अपौरुषेय वाद के खण्डन में बौद्ध और जैन विद्वान् इस वाद का विशेषरूप से आश्रयण करते परन्तु बौद्ध और जैन दार्शनिक ग्रन्थों में इस वाद का उपयोग उसी साधारण रूप में किया है, जिस रूप में जैमिनि ने इस का पूर्वपक्ष में निर्देश किया है।

शाखागत ऐतिहासिक पदों का सामान्य अर्थ करने की शैली

वेद की समस्त शाखाएं वेद के रूपान्तर हैं। वर्तमान में उपलब्ध शाखाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि इन शाखाओं के रूपान्तरीकरण में दो प्रधान कारण थे। एक—अप्रसिद्धार्थ पद के स्थान में प्रसिद्धार्थ पद का निर्देश करके अर्थ का बोध कराना और दूसरा—याज्ञिक कर्मकाण्ड के लिये सुविधा उत्पन्न करना।

इन शाखाओं के विभिन्न मन्त्रों की तुलना से यह भी स्पष्ट होता है कि कई स्थानों में उनमें मन्त्र के सामान्यार्थवाचक शब्द के स्थान में याज्ञिक प्रक्रिया आदि की सुगमता के लिये व्यक्ति, जाति, देश विशेष वाचक शब्द भी रख दिये जाते हैं। हम अपने भाव को प्रकट करने के लिये एक मन्त्र के उपलब्ध शाखाओं के पाठान्तर नीचे दर्शाते हैं—

एष वोऽमी राजा (९।४०)	माध्यन्दिन
एष वः कुरवो राजैष पंचाला राजा (११।११)	काण्व
एष वो भरता राजा (१।८।१०)	तैत्तिरीय
एष ते जनते राजा (१५।७)	काठक
एष ते जनते राजा (२।६।९)	मैत्रा०

इन पाठों को आपाततः देखने से ही स्पष्ट विदित होता है कि माध्यन्दिनी संहिता का पाठ प्राचीन है। वहां सर्वनाम 'अमी' शब्द का व्यवहार किया गया है, जिसका किसी जाति वा देशविशेष से सम्बन्ध नहीं है। अन्य संहिताओं में 'कुरवः' 'भरताः' 'पंचालाः' आदि जातिविशेष वाचक पद प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दों से स्पष्ट है कि जिस शाखा का जिस देश में विशेष प्रचार था, उस-उस देश के निवासियों को सम्बोधन करके अभिषिक्त राजा का निर्देश किया है। काठक और मैत्रायणी में यद्यपि जातिविशेष का वाचक पद नहीं है, तथापि 'जनते' का निर्देश यह स्पष्ट करता है कि जिन देशों में वास्तविक रूप में कोई व्यक्ति विशेष आजन्म राजा नहीं होता था अर्थात् प्रजातन्त्रराज्य[1] था, वहां 'जनता' को ही संबोधन किया है।

---

१. काठक और मैत्रायणी के पाठ से यह स्पष्ट है कि भारत में अति प्राचीन

ऐसे विशिष्ट पदों का अर्थ भी प्राचीन आचार्य सामान्य ही किया करते थे अर्थात् जैसे 'एष वोऽमी राजा' मन्त्र का राज्याभिषेक में उच्चारण करते हुए 'एष' पद के आगे अभिषिक्त राजविशेष के नाम का उच्चारण किया जाता है (एष युधिष्ठिरो वो भरता राजा) और वह नामविशेष मन्त्र का अवयव नहीं बनता। ऐसे ही 'अमी' सर्वनामपद के स्थान में प्रयुक्त 'कुरवः' 'भरताः' 'पंचालाः' आदि पद भी उस मन्त्र के अवयव नहीं हैं। राजा के नाम प्रति राज्याभिषेक में बदलते रहते हैं, परन्तु जातियां चिरस्थायी होती हैं अतः शाखाकारों ने राजनाम-स्थानापन्न 'एष' सर्वनाम पद ही रहने दिया, परन्तु 'अमी' के स्थान के 'पंचालाः' आदि जाति-वाचक पद रख दिये। इस से स्पष्ट है कि जैसे 'एष युधिष्ठिरो वो भरता राजा' में युधिष्ठिर व्यक्तिविशेष का मन्त्रार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही 'कुरवः, भरताः, पञ्चालाः' पदों का मन्त्रार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः या तो इन पदों को उपलक्षणार्थ मानकर इनका सामान्य अर्थ किया जाये या इनके धात्वर्थ को लेकर इन्हें सामान्यार्थ का वाचक समझा जाये, ये दो ही मार्ग हो सकते हैं। भारतीय आचार्यों ने शाखाओं में रूपान्तरित हुए मन्त्रों के ऐतिहासिक जाति, व्यक्ति और देशपरक नामों का धात्वर्थ के आधार पर सामान्यार्थ कल्पना का मार्ग स्वीकारा है। इसीलिये भारतीय आचार्य मन्त्रों में पाठान्तर होने पर भी उनमें अर्थभेद स्वीकार नहीं करते। भगवान् पतञ्जलि ने स्पष्ट लिखा है—

यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सानित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं, कालापकं, पैप्पलादकम् इति।

अर्थात् छन्दों=शाखाओं में वर्णानुपूर्वी के भेद होने पर भी अर्थ नित्य है अर्थात् एक है, अर्थ में भेद नहीं है। केवल वर्णानुपूर्वी का भेद होने से ही उनमें मौदकं पैप्पलादकम् आदि व्यवहार होता है।

इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन वायुपुराण में इस प्रकार किया है—

सर्वास्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः।
पाठान्तरे पृथक् भूता वेदशाखा यथा तथा॥ ६१।५६॥

अर्थात् उस चतुष्पाद् एक पुराण की ही प्रवचन भेद से अनेक संहिताएं बनीं, उनमें पाठान्तरों के अतिरिक्त कोई भेद नहीं था, सबका एक ही अर्थ था, जैसे कि वेद की शाखाओं में पाठान्तर होने पर भी अर्थ एक ही होता है।

काल में प्रजातन्त्र राज्य स्थापित हो चुके थे। प्रजातन्त्रराज्य पाश्चात्य देशों की ही देन है; यह समझना सर्वथा मिथ्या है।

इसी विषय में आगे पुनः कहा है—

प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे स्मृताः । ६१।७१॥

अर्थात् प्रजापति से प्राप्त श्रुति का पाठ नित्य है। शाखाभेद से विभिन्न पाठ उसी प्राजापत्य नित्य श्रुति के विकल्प=पाठान्तर मात्र हैं।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि शाखाओं के विभिन्न पाठान्तरों का अर्थ समान है। इस दृष्टि से शाखामन्त्रों में जहां-जहां ऐतिहासिक नाम आये, मन्त्रार्थ की दृष्टि से उनका तात्पर्य भी सामान्य ही लेना होगा, अन्यथा 'कुरवः, भरताः, पञ्चालाः' का एक अर्थ कैसे हो सकता है? एकार्थ की उपपत्ति के लिये इनका धात्वर्थ के अनुसार अर्थ किया जाये तो ये मनुष्यसामान्य के वाचक बन जायेंगे। इस का यह अभिप्राय नहीं कि शाखामन्त्रों में पाठान्तर रूप में आये ऐतिहासिक पदों का कोई मूल्य नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से उनका बड़ा भारी मूल्य है, परन्तु वेदार्थ की दृष्टि से इन ऐतिहासिक व्यक्ति वा जाति वाचक पदों का कोई मूल्य नहीं है।

उत्तर काल में जब शाखाएं ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषदें ये सब वेद माने जाने लगे और इन्हें भी अपौरुषेय या महाभूत निःश्वसित समझा जाने लगा, तब शाखामन्त्रों में पाठान्तररूप से आये ऐतिहासिक पदों के समान ब्राह्मण भाग में श्रुत ऐतिहासिक पदों का भी सामान्य अर्थ किया जाने लगा। मीमांसा के व्याख्याता शबर स्वामी आदि ने 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।२।१०।२) इत्यादि पदों का इसी प्रकार का अर्थ दर्शाया है[1]। अर्थात् जो सिद्धान्त प्राचीन काल में केवल शाखामन्त्रों के विशिष्ट पदों के अर्थ करने में स्वीकार किया जाता था, उसका अतिदेश उन्होंने ब्राह्मण वचनों में भी कर दिया, जो कि न केवल अनुचित ही है, अपितु याज्ञिक प्रक्रिया के इतिहास के विरुद्ध भी है।

६—भाषाविज्ञान-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

वेदार्थ की अन्तिम महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है—भाषाविज्ञान। इस प्रक्रिया के अनुसार वेद के विभिन्न सन्दिग्ध पदों का अर्थ करने के लिये विभिन्न देशों की भाषाओं की शाब्दिक, आर्थिक और व्याकरण सम्बन्धी साम्यता को मुख्य आधार रूप में स्वीकार किया जाता है। यद्यपि इस प्रक्रिया का उद्भव विक्रम की २० वीं शताब्दी में माना जाता है, परन्तु यह प्रक्रिया एतद्देशीय विद्वानों के लिये नवीन नहीं है,[2] यह

---

१. मीमांसाभाष्य १।१।३१॥

२. इस विषय के देखिये हमारे लेख—(क) भारतीयं भाषाविज्ञानम् (गुरुकुल

अनुपद ही व्यक्त हो जायेगा। हां, मध्यकाल में जब भारतीय भाषा परिवार से भिन्न म्लेच्छभाषा के अध्ययनाध्यापन पर धार्मिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया,[1] तब यह प्रक्रिया लुप्त हो गई।

सम्प्रति जिसे भाषाविज्ञान कहा जाता है, उसके तीन अङ्ग हैं— उच्चारण, शब्दों का स्वरूप और उसके अर्थ। भारतीय मनीषियों ने भाषाशास्त्र के तीनों अङ्गों के निरूपण के लिए क्रमशः शिक्षा व्याकरण और निरुक्त शास्त्र का अन्वाख्यान किया है। निरुक्त शास्त्र का मुख्य प्रयोजन वैदिक शब्दों के निश्चित अर्थों का[2] ज्ञान कराना है। दूसरे शब्दों में अमुक अर्थ क्यों हो गया, इसकी उपपत्ति दर्शाना ही निरुक्त शास्त्र का प्रयोजन है।[3] शब्दों की वर्णानुपूर्वी समान होने पर भी उनके अर्थों में महद् अन्तर होता है, इसलिये उनके विभिन्न अर्थों के मूल कारणों को व्यक्त करने के लिये ही निरुक्त शास्त्र में एक शब्द के अनेक धातुओं के निर्देश द्वारा अर्थों का उपपादन किया है।[4]

यास्कीय निरुक्त के 'अथ निर्वचनम्' प्रकरण (२।१४) की तुलना आधुनिक भाषाविज्ञान के नियमों से करने पर स्पष्ट विदित होता है कि यास्क ने साम्प्रतिक भाषाविज्ञान के न केवल उन सभी नियमों का आश्रयण किया है, जिन्हें विक्रम की २०वीं शताब्दी की उपज समझा जाता है, अपितु ध्वनिविकार के कई ऐसे नियम दिए हैं, जिन्हें आधुनिक भाषाशास्त्री अभी तक स्वीकार नहीं कर पाये, किन्तु भाषा

पत्रिका, मई, जून, जुलाई १९६१), (ख) भाषाविज्ञान और स्वामी दयानन्द (वेदवाणी, वेदाङ्क संवत् २०१७) तथा स्वामी दयानन्दकृत 'सत्यार्थप्रकाश' प्रथम संस्करण पृष्ठ २५०-२५१, तथा 'पूना प्रवचन' (पांचवां प्रवचन) पृष्ठ ३८।

१. न वदेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि। इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती का सत्यार्थप्रकाश, (प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४६७) का लेख द्रष्टव्य है।

२. अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। निरुक्त १।१५।।

३. यथा—'पाद' शब्द का प्रयोग मनुष्य-पशु-पक्षी आदि का पैर, मनुष्य आदि के पैर का मिट्टी में पड़ा चिह्न (द्र०—'सोमक्रयिण्याः सप्तमं पदं गृह्णाति' मी० शा० भाष्य ४।१।२५ में उद्धृत), चतुर्थभाग और भागमात्र (मी० दर्शन के अ० ३, ६, १० में ८ पाद हैं) अर्थों में होता है। इन विभिन्न अर्थों का कारण निरुक्तकार ने इस प्रकार दर्शाया है—'पादः पद्यतेः, तन्निधानात् पदम्, पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः, प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि।

४. टिप्पणी परिशिष्ट में देखें।

में वे ध्वनिविकार स्पष्ट देखे जाते हैं[1]। जहां तक हमने आधुनिक भाषाविज्ञान के नियमों का अनुशीलन किया है, उसके अनुसार कहा जा सकता है कि यास्क के भाषाविज्ञान = निर्वचन-शास्त्र के नियम अधिक व्यापक और पूर्ण हैं। हम भारतीय विचारक उनको गहराई से न देखें, तो यह हम लोगों का दोष है।

अर्वाचीन और प्राचीन भाषाविज्ञान में एक मौलिक भेद है। आधुनिक भाषा-विज्ञानवादी अति पुरातन काल में अर्थात् किसी समय भी समस्त मानव जाति की एक भाषा स्वीकार नहीं करते। उन्होंने आधुनिक समस्त भाषाओं को भारत-योरोपीय, सेमिटिक, हैमटिक आदि अनेक विभागों में बांटकर उसकी मूलभूत अनेक विभिन्न भाषाओं की कल्पना की है। भारतीय प्राचीन भाषातत्त्वविदों का मत है कि समस्त मानव जाति का मूल एक है।[2] एक स्थान से ही समस्त विश्व में मानव जाति का विस्तार हुआ है। इसलिए समस्त मानव जाति की आदि मूल भाषा एक है और वह है प्राजापत्या दैवी वाक् अर्थात् संस्कृत भाषा। उसी दैवी वाक् में राजसिक-तामसिक पदार्थों के अतिसेवन तथा देशकाल के परिवर्तन के कारण जिह्वा-शक्ति में विकलता आ जाने से तथा वर्णोच्चारण शास्त्र पर विशेष ध्यान न देने के कारण ध्वनि में परिवर्तन होकर "म्लेच्छ" भाषा की उत्पत्ति हुई। म्लेच्छ शब्द का मूल अर्थ अव्यक्तोच्चारण ही है—"म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे"। इसी अव्यक्तो-च्चारण ही के कारण अव्यक्तोच्चारण करनेवाले भी म्लेच्छ कहाये। अतएव भारतीय वाङ्मय के सर्वातिप्राचीन ग्रन्थ मनुस्मृति में भाषा के केवल दो ही विभाग लिखे हैं—आर्यवाक् और म्लेच्छवाक्।[3] इस दृष्टि से समस्त संसार की भाषाएं प्राजापत्या दैवी वाक् के अपभ्रंश = म्लेच्छ = म्लिष्ट उच्चारण से उत्पन्न हुई हैं।

---

१. यथा—अथाप्याद्यन्तव्यापत्तिर्भवति—ओघः मेघः नाधः गाधः वधू मधु इति (निरुक्त २।१, २)। यहां सब उदाहरणों में यास्क ने 'ह' को 'घ' और 'ध' होना लिखा है। यास्क की वर्तमान व्याख्यानुसार ये शब्द क्रमशः उह, मिह, णह = नह, गाहू, वह, मह धातु से बने हैं। नैरुक्तों के मतानुसार ऋ० १।११।३ में धनवाची 'मघ' शब्द की निरुक्ति 'मंह' धातु से दर्शाई है—"स्तोतृभ्यो मंहते मघम्"। पाश्चा-त्यभाषाविज्ञानवादी 'ह' के स्थान में वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्ण की व्यापत्ति (परिवर्तन) स्वीकार नहीं करते। देखो—श्री डा० मंगलदेवजी शास्त्री कृत भाषा-विज्ञान प्र० सं०, पृष्ठ १८२। हमने इस पाश्चात्य मत का सप्रमाण खण्डन अपने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' भाग १, पृ० १४-१५ (सं० २०३०) पर किया है।

२. भाषासम्बन्धी यही मत द्र०—बाइबल तौरेत उत्पत्ति० ११। आ० १।

३. म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः। १०।४५॥

अतः सब भाषाओं में शाब्दिक आर्थिक और व्याकरण सम्बन्धी नियमों की कुछ साम्यता होना अवश्यंभावी है। पाश्चात्य भाषाविज्ञानवित् जिन सेमेटिक भाषाओं का मूल भारतयोरोपीय भाषाओं के मूल से पृथक् मानते हैं, उनमें से अरबी भाषा में संस्कृत भाषा के साथ एक ऐसी समानता मिलती है जो भारतयोरोपीय भाषा परिवार की किसी भाषा में उपलब्ध नहीं होती। वह समानता है एकवचन, द्विवचन और बहुवचन—तीन वचनों की। संस्कृत से विकृत प्राकृत तथा आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं से भी द्विवचन नष्ट हो गया है। इसके अतिरिक्त अरबी और संस्कृत के व्याकरण के नियमों में भी कई समानताएं हैं। इन समानताओं के कारण मानना होगा कि सेमेटिक परिवार की अरबी भाषा और भारतयोरोपीय परिवार की संस्कृत भाषा का परम्परा से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। चाहे वह सम्बन्ध प्रकृति विकृति रूप हो, चाहे दोनों का मूल कोई अन्य भाषा हो।

अतः प्राचीन भारतीय विद्वान् सप्तद्वीपा वसुमती की मूल भाषा संस्कृत ही मानते थे[1], इसलिए स्वदेश में प्रचलित वैदिक शब्दों का अर्थ करने के लिए म्लेच्छ प्रसिद्ध अर्थों को भी स्वीकार करते थे। इसी दृष्टि से जैमिनि ने अपने मीमांसा-शास्त्र में "म्लेच्छप्रसिद्धार्थप्रामाण्य" नामक एक अधिकरण रचा है[2]। यास्क ने भी निरुक्त के "अथ निर्वचनम्" (निर्वचननियमप्रदर्शक) प्रकरण (२।१-४) में स्वदेश में अव्यवहृत किन्तु देशान्तर में प्रसिद्ध धातुओं से स्वदेशीय शब्दों के निर्वचन करने का विधान किया है। यथा—

अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाषन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति......(२।२)।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्य वर्तमान भाषाविज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों का वेदार्थ में उपयोग करना जानते थे। इतना ही नहीं, अपितु समस्त विश्व की मूल भाषा एकमात्र प्राजापत्या दैवी वाक् संस्कृत को मानने के कारण उनका शब्दार्थ साम्यता का क्षेत्र साम्प्रतिक भाषाविज्ञानवादियों की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत था, क्योंकि आधुनिक-भाषा-विज्ञानवादी संस्कृतभाषा का सेमिटिक

---

१. सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदा—.........आदि प्रकरण। महाभाष्य १।१ प्रथमाह्निक।

२. अ० १ पाद ३ अधि० १०। इसका दूसरा नाम 'पिकनेमाधिकरण' भी है। इस अधिकरण पर हमने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ ४५-४६ (संवत् २०३०) में विशेष विचार किया है।

आदि अन्य परिवार की भाषाओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं मानते। पाश्चात्य भाषाविज्ञानवादियों ने अनेक निराधार कल्पनाओं के कारण भाषाविज्ञान का स्वरूप बहुत विकृत कर दिया है। इस कारण जहां इस विज्ञान के यथार्थ प्रयोग से वेदार्थ में सहायता हो सकती थी, वहां इसके दुरुपयोग से वेदार्थ का नाश हो रहा है। श्रेष्ठ पर्याय 'आर्य' शब्द का लिथोनियन भाषा के आधार[1] पर 'कृषक' अर्थ करना, "कस्मै देवाय हविषा विधेम[2]" में 'कस्मै' पद को प्रश्नार्थक बनाना[3], "उषो वाजेन वाजिनी' (ऋ० ३।६१।१) का The Goddess of Dawn having flet horses[4] अर्थ करना इसी प्रकार का है।

वेदार्थ की अन्य प्रक्रियाएं

इन प्रक्रियाओं के अतिरिक्त वेदार्थ की कुछ अन्य प्रक्रियाओं का निर्देश यास्कीय निरुक्त में उपलब्ध होता है। यथा—

१—आख्यानसमयः (७।७)

२—नैदानाः (७।१२)

३—नैरुक्ताः (बहुत्र)

४—परिव्राजकाः (२।८)

इनमें से आख्यान समय का ऐतिहासिक प्रक्रिया में, परिव्राजकों का अध्यात्म प्रक्रिया में अन्तर्भाव हो जाता है। नैदान और नैरुक्त दोनों निर्वचन प्रधान हैं (दोनों में साधारण अन्तर है)। इनकी प्रक्रिया कोई वेदार्थ की मूल-भूत स्वतन्त्र प्रक्रिया नहीं है। शब्दनिर्वचन द्वारा इस प्रक्रिया का सम्बन्ध आधियाज्ञिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक आदि सभी प्रक्रियाओं के साथ है।

वेदार्थ की दो ही प्रक्रियाएं—यद्यपि यास्क ने निरुक्त में 'वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्' मन्त्रांश की व्याख्या में 'याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा' लिखकर वेदार्थ की तीन प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है, परन्तु याज्ञिक प्रक्रिया के उत्तरकालीन होने से वेद की दृष्टि में आधिदैविक और आध्यात्मिक दो ही वेद के

१. लिथोनियन भाषा में 'ऋ' (=अर्) कृष्यर्थ में प्रयुक्त होती है।

२. ऋ० १०।१२१ में असकृत्॥

३. भण्डारकर अभिनन्दन ग्रन्थ, पूना, सन् १९१७।

४. देखो—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल कृत 'उरुज्योति' ग्रन्थ, पृष्ठ ५९ में उद्धृत।

अर्थ हैं। यज्ञों का प्रादुर्भाव अधिदैवत सृष्टियज्ञ को समझाने के लिये हुआ है यह हम पूर्व लिख चुके हैं। इसी प्रकार अन्य प्रक्रियाएं भी उत्तरकालीन कल्पित हैं।

७—वेद के समस्त पद यौगिक हैं

वेदार्थ प्रक्रिया में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है—वेदार्थ की जितनी प्रक्रियाएं हैं, उनमें केवल ऐतिहासिक प्रक्रिया को छोड़कर अन्य सभी प्रक्रियाओं में समस्त वैदिक नामों=प्रातिपदिकों को धातुज=यौगिक माना जाता है। इसलिये नैदान और समस्त नैरुक्त आचार्य सभी नाम पदों को यौगिक मानते हैं। अति पुरातन काल में जब यदृच्छा शब्दों की उत्पत्ति नहीं हुई थी[1] तब समस्त लौकिक नाम पद भी यौगिक माने जाते थे। इस प्रक्रिया को शाकटायन ने अपने व्याकरण में सुरक्षित रक्खा था।[2] उत्तर काल में अपभ्रंश की देखा-देखी संस्कृतभाषा में भी जब यदृच्छा शब्द सम्मिलित हो गये,[3] तब उनको अव्युत्पन्न मानना पड़ा। क्योंकि उनके यदृच्छोत्पन्न होने के कारण उनमें धात्वर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती थी। इसके अनन्तर जब संस्कृत भाषा के कतिपय मूल शब्द भी अर्थविशेष में रूढ़ हो गये और उनके यौगिक अर्थ की प्रतीति नष्ट हो गई, तब संस्कृत भाषा के उन मूलभूत शब्दों को भी यदृच्छा शब्दवत् रूढ़ मान लिया गया। प्राचीन वैयाकरणों ने ऐसे रूढ़ शब्दों के भी मूल अर्थ का स्मरण कराने के लिये उनको सामान्य कृदन्त=धातुज शब्दों से पृथक् उणादिगण में पढ़ा है। उणादिसूत्रों के व्याख्याकार औणादिक शब्दों को रूढ़ ही मानते हैं।[4] इससे भी उत्तर काल में जब वृक्ष अश्व पुरुष आदि नामों के समान पाचक याजक शब्द भी विशेषार्थ में रूढ़ हो गये[5], उनके भी धात्वर्थ की प्रतीति नष्ट हो गई तब समस्त कृदन्त शब्दों को रूढ़

---

१. यदृच्छा शब्द संस्कृत भाषा के अङ्ग हैं या नहीं, इस विषय में वैयाकरणों में मतभेद है। कई उन्हें अपशब्द कहते हैं। देखो—ऋलृक् सूत्र का महाभाष्य "न सन्ति यदृच्छाशब्दाः"।

२. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। निरुक्त १।१४।। नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। महाभाष्य ३।३।१।।

३. द्र०—पूर्व टिप्पणी १।

४. उणादिप्रत्ययान्ताः संज्ञाशब्दाः। तेन तेषामत्र स्वरूपसंवेदनस्वरवर्णानुपूर्वीमात्रफलमन्वाख्यानम्। श्वेतवनवासी उणादिवृत्ति १, १, पृष्ठ १। प्रायेणोणादिषु परोक्षवृत्तयः शब्दाश्चिन्त्यन्ते। दुर्ग निरुक्त टीका १।१, पृष्ठ ७, पं० २८ (आनन्दाश्रम सं०)।

५. सम्प्रति लोक में पाक क्रिया के प्रत्येक कर्त्ता को पाचक नहीं कहते। पाचक

मान लिया गया और उनकी धातु से कल्पना करना निष्प्रयोजन समझा गया अर्थात् कृदन्त भाग को व्याकरण में से निकाल दिया गया। इस भाव को कालाप (कातन्त्र) व्याख्याता दुर्गसिंह ने बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है—

वृक्षादिवदमी रूढा कृतिना न कृता कृतः।
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुधप्रतिपत्तये ॥

अर्थात् कृदन्त शब्द भी वृक्ष आदि के समान रूढ़ हैं। इसलिये कालाप व्याकरण के रचयिता (शर्ववर्मा) ने कृदन्त प्रकरण की रचना नहीं की। विद्वानों के ज्ञान के लिये (साधारण पुरुषों को अर्थमात्र से प्रयोजन होता है, प्रकृति प्रत्यय से नहीं) कात्यायन (विक्रम-समकालिक) ने यह कृदन्त प्रकरण रचा है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा के समस्त नाम पद आदिकाल में यौगिक अर्थात् धातुज माने जाते थे। उत्तरोत्तर उनमें अर्थ विशेष में सीमित हो जाने पर रूढ़त्व बुद्धि का प्रसार हुआ और अन्त में समस्त कृदन्त शब्द रूढ़ मान लिये गये। यतः वेद का प्रादुर्भाव भारतीय परम्परा के अनुसार सृष्टि के आदि में हुआ। अतः उनमें कोई भी शब्द रूढ़ नहीं है। इस कारण वेद के समस्त शब्दों का अर्थ यौगिक=धातु के अर्थ के अनुकूल करना चाहिये। प्रकरणादि से उसका अर्थ विशेष में पर्यवसान होगा।

८—वेदों के भाष्य

प्राचीन भारतीय भाष्य

सम्प्रति सायण, महीधर, उव्वट, भट्टभास्कर, माधव, वेङ्कटमाधव, स्कन्द और उद्गीथ आदि-आदि के जितने भी वेदभाष्य उपलब्ध हो रहे हैं, वे सब याज्ञिक प्रक्रियानुसारी हैं। उनके ऊपर कल्पसूत्र, ब्राह्मण ग्रन्थ और अपने समय की परिस्थिति का अत्यधिक प्रभाव है। उनका मस्तिष्क इनके भार से इतना दबा हुआ है कि वे स्वतन्त्रता से कुछ नहीं लिख सकते। अतएव ये भाष्यकार सिद्धान्तरूप से किसी बात को स्वीकार करके भी उसको निभा नहीं सके। इन सब विद्वानों ने अपने भाष्य 'वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः' इस को केन्द्र बना कर रचे हैं। मध्वाचार्य तथा उनके कतिपय अनुयायियों ने ऋग्वेद के प्रारम्भिक ढाई अध्याय (४० सूक्तों) की आध्यात्मिक प्रक्रिया से टीका टिप्पणी करने का प्रयास किया है। यह प्रयास स्तुत्य होते हुए भी सम्प्रदाय

शब्द पाककर्मार्थ रखे गये भृत्य मात्र में रूढ़ हो गया है। इसी प्रकार याजक शब्द भी ऋत्विक् मात्र में रूढ़ समझा जाता है। दुर्गसिंह तद्धितान्त शब्दों को भी रूढ़ मानता है—संज्ञाशब्दत्वात् तद्धितान्तान्। कातन्त्र परिभाषावृत्ति, पृष्ठ ५२ (परिभाषा संग्रह, पूना)।

विशेष की दृष्टि से किया हुआ है । इस कारण उसमें वह प्रौढ़ता नहीं है, जो स्वतन्त्र विचारक की कृति में हुआ करती है । आत्मानन्द का अस्यवामीय सूक्त (ऋ० १। १६४) का अध्यात्मभाष्य भी इसी कोटि का है । ये सब टीका टिप्पणीकार अध्यात्म शब्द विषयक प्राचीन आर्ष विस्तृत दृष्टि नहीं समझते थे । मन्त्र में कथंचित् भी विष्णु का संबन्ध जोड़ देना, इनके आध्यात्मिकत्व का लक्षण था[1] । अतः इन के लिये आध्यात्मिक शब्द का व्यवहार करना भी अनुचित है । इसके अतिरिक्त इन वेद-भाष्यकारों ने वेद का सब से महत्त्वपूर्ण अर्थ जिससे मनुष्यों की ज्ञान-विज्ञान और उसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति हो सकती थी, उसकी ओर किञ्चिन्मात्र भी ध्यान नहीं दिया । इसलिये इन प्राचीन वेदभाष्यों के अनुसार वेद या तो केवल शुष्क[2] कर्मकाण्ड के विषय बन गये या मूड़मुड़ाये लोगों के लिये हरिस्मरण के ।

योरोपियन भाष्य

विक्रम की २०वीं शताब्दी में योरोपदेशवासियों ने वेद पर अनुसन्धान करना आरम्भ किया । अनेकों ने जर्मन और इंगलिश भाषा में वेद के अनुवाद किए । इनके लिये संस्कृत भाषा विदेशी भाषा थी, इसलिये उनका उसमें अप्रतिहत गति प्राप्त करना असम्भव था, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने अपने दृढ़ अध्यवसाय के बल पर वैदिक साहित्य पर गत डेढ़ शताब्दी में जितना कार्य किया है, उसका दशांश भी भारतीयों ने नहीं किया । पाश्चात्य विद्वानों के इतने दृढ़ अध्यवसायी होने पर भी वे तीन कारणों से वेद की गहराई तक नहीं पहुचं सके । प्रथम—उन्हें वेदार्थ समझने के लिये एकमात्र सायणभाष्य का ही आश्रय मिला, जो स्वयं वेद के ऊपर-ऊपर डोलता है । द्वितीय—पाश्चात्य विद्वानों का ईसाइयत का पक्षपात[3] । तृतीय—बिना सिर पैर के मिथ्यावादों की कल्पना । इन तीन प्रमुख कारणों से योरोपीय विद्वानों से किये गये वेद के अनुवाद कैसे होंगे, इसका अनुमान सहज ही हो सकता है । हम यहां निदर्शनार्थ

---

१. साम्प्रतिक आर्यसमाज वेदभाष्यकार भी 'हे ईश्वर' सम्बोधन जोड़ देनेमात्र से आध्यात्मिक अर्थ हो जाता है, ऐसा मानते हैं ।

२. अर्थात् पूर्व प्रदर्शित यज्ञोत्पत्ति के मूल प्रयोजन से रहित, अदृष्टमात्र विषयक ।

३. देखो—श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत "भारतवर्ष का बृहद् इतिहास" भाग १, पृष्ठ ३५-४८ (प्रथम सं०) । इतिहास प्रेमियों को इस ग्रन्थ का तृतीय अध्याय अवश्य पढ़ना चाहिये ।

दो छोटे से उदाहरण उपस्थित करते हैं—

१. इन्द्र के लिये प्रयुक्त "वृषभो रोरवीति" (ऋ० ३।५५।१७) का अर्थ Indra The Great Roaring Bull किया है।[1]

२. "उषो वाजेन वाजिनी" (ऋ० ३।६१।१) का अर्थ The Goddess of Dawn Having Fleet horses किया है।[2]

अतः योरोपीय विद्वानों से यह आशा रखना कि वे वेद के वास्तविक अर्थ को प्रकट करेंगे, सर्वथा दुराशा है। इसी प्रकार जो भारतीय विद्वान् पाश्चात्यों के पद-चिन्हों पर चलकर वेद में परिश्रम कर रहे हैं, उनसे भी किसी प्रकार की आशा रखना अनुचित है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेदभाष्य

जिस समय योरोपीय देशों में वेदार्थ जानने के लिए प्रयत्न हो रहा था, उसी समय भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक सर्वथा नई दृष्टि से वेदार्थ करने का उपक्रम किया। स्वामी दयानन्द का वेदार्थ इन दोनों प्रकार के वेदार्थों से भिन्न था। स्वामी दयानन्द ने वेदार्थ की प्राचीन और अर्वाचीन सभी प्रक्रियाओं का भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से अनुशीलन किया और इस बात का निर्णय किया कि वेद और उसके अर्थ की वह स्थिति नहीं है, जो यज्ञों के प्रादुर्भाव के पीछे उत्तरोत्तर परिवर्तन होकर बन गई है। अपितु जिस समय यज्ञों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, उस समय वेदों की जो स्थिति थी और जिस आधार पर वेद का अर्थ किया जाता था, वही उसका वास्तविक अर्थ था। इसके लिये उन्होंने समस्त वैदिक और लौकिक, आर्ष और अनार्ष, सर्वविध संस्कृत वाङ्मय का आलोडन किया। मनुस्मृति, षड्दर्शन, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और महाभारत आदि ग्रन्थों में जहां कहीं भी उन्हें प्रसङ्ग प्राप्त प्राचीन वेदार्थ सम्बन्धी संकेत उपलब्ध हुए उनके अनुसार प्राग्यज्ञकालीन वेदार्थ करने के जो नियम स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निर्धारित किए, वे इस प्रकार हैं—

१. वेद अपौरुषेय वा मनीषी स्वयंभू कवि का काव्य वा देवाधिदेव की दैवी वाक् वा ज्येष्ठ ब्रह्म की ब्राह्मी वाक् वा प्रजापति की श्रुति वा महाभूत का निःश्वास होने से अजर अमर अर्थात् नित्य है। अतएव

२. वेद में किसी देश जाति और व्यक्ति का इतिवृत्त नहीं है। इस कारण

---

१. देखो—'उरु ज्योति' (श्री डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल कृत) पृष्ठ ५७।

२. उरु ज्योति पृष्ठ ५९।

३. वेद के समस्त नाम पद (=प्रातिपदिक) यौगिक (=धातुज) हैं, रूढ़ नहीं। अतएव उनके सर्वविधप्रक्रियानुगामी होने से

४. वेद सब सत्य विद्याओं के पुस्तक हैं। इसलिए

५. वेद में आधिभौतिक तथा आधिदैविक समस्त पदार्थ विज्ञान का सूत्र रूप से वर्णन है। इसके साथ ही आध्यात्मिक दृष्टि से

६. वेद के किसी भी मन्त्र में ईश्वर का परित्याग नहीं होता अर्थात् सम्पूर्ण वेद का वास्तविक तात्पर्य अध्यात्म में है। अतएव

७. वेद के अग्नि वायु इन्द्र आदि समस्त देवता वाचक पद उपासना प्रकरण (=अध्यात्म) में परमेश्वर के वाचक होते हैं और अन्यत्र भौतिक पदार्थ के। याज्ञिक क्रिया का पर्यवसान आधिदैविक विज्ञान में होने से

८. युक्ति प्रमाणसिद्ध याज्ञिक क्रिया कलाप, मन्त्रार्थानुसृत विनियोग और तदनुसारी याज्ञिक अर्थ भी ग्राह्य है, अन्य नहीं।

९. वेद मनीषी स्वयंभू कवि का काव्य होने से उसकी वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक है। अतएव

१०. वेद में भौतिक जड़ पदार्थों से अभिलषित पदार्थों की याचना, अश्लीलता, वर्ग-द्वेष और पशु-हिंसा आदि-आदि असम्भव तथा अनर्थकारी बातों का उल्लेख नहीं है।

११. वेद स्वतः प्रमाण हैं, अन्य समस्त वैदिक, लौकिक, आर्ष और अनार्ष वाङ्मय परतः प्रमाण अर्थात् वेदानुकूल होने से मान्य है। अतएव

१२. वेद की व्याख्या करने में व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष, पदपाठ, प्रातिशाख्य, आयुर्वेदादि उपवेद, मीमांसा वेदान्त आदि दर्शन, कल्प (श्रौत, गृह्य, धर्म) सूत्र, ब्राह्मण और उपनिषद् आदि आदि समस्त वैदिक, लौकिक, आर्ष और अनार्ष वाङ्मय से सहायता ली जा सकती है (क्योंकि इनमें प्राचीन वेदार्थ सम्बन्धी अनेक रहस्यों के संकेत विद्यमान हैं), परन्तु कोई भी मन्त्र-व्याख्या इन ग्रन्थों के अनुकूल न होने वा विपरीत होने से अमान्य नहीं हो सकती, जब तक वह स्वयं वेद के विपरीत न हो।

इन नियमों के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद के साढ़े छः मण्डल और सम्पूर्ण यजुर्वेद का भाष्य रचा। उन्होंने अपने भाष्य में इन मूलभूत सिद्धान्तों का सर्वत्र अनुगमन किया है। जैसे सायण और स्कन्द स्वामी आदि भाष्यकार

सिद्धान्त रूप से वेद का नित्यत्व और उसमें अनित्येतिहास अभाव का प्रतिपादन करके भी अपने वेदभाष्यों में इन मूल सिद्धान्तों का अनुगमन करने में असमर्थ रहे, ऐसा दोष स्वामी दयानन्द के भाष्य में कहीं नहीं है।

उपसंहार

इस प्रकार वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक दृष्टि से अनुशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञों के प्रादुर्भाव से पूर्व वेदार्थ की क्या स्थिति थी और किन प्रक्रियाओं के आधार पर वेदार्थ समझा वा समझाया जाता था, यज्ञों के प्रादुर्भाव के अनन्तर उसका वेदार्थ पर क्या प्रभाव पड़ा, याज्ञिक तथा अन्य प्रक्रियाओं में किस प्रकार शनैः शनैः परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों का वेद और उसके अर्थ पर अन्त में क्या प्रभाव हुआ।

आज से लगभग ११-१२ सहस्र वर्ष पूर्व से वेदार्थ की वास्तविक प्रक्रिया में परिवर्तन तथा ह्रास का आरम्भ हुआ (यही काल यज्ञों के प्रादुर्भाव का है) और वेदार्थ उत्तरोत्तर विकृत होता चला गया। इतने सुदीर्घ काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती के अतिरिक्त किसी भी अन्य आचार्य ने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि जब तक यज्ञों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था तब (यज्ञों से पूर्व) भी वेद का कोई अर्थ समझा समझाया जाता था वा नहीं? (वेद का प्रादुर्भाव सृष्टि के आरम्भ में और यज्ञों का त्रेता के आदि में माना जाता है), यदि समझा जाता था तो उस वेदार्थ की क्या प्रक्रिया थी ? इस सुदीर्घ काल में जितने भी पुरातन आचार्यों ने वेदार्थ के विषय में जो कुछ लिखा है उन सब पर अपने-अपने समय की वेदार्थ प्रक्रिया का कितना भारी प्रभाव था, यह भी इस विवेचना से स्पष्ट है।

वेदार्थ प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक विवेचना से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दृष्टि से वेद और उसके अर्थ की वही वास्तविक स्थिति है, जो यज्ञों की प्रकल्पना से पूर्व समझी जाती थी और जिसके कतिपय संकेत मनुस्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। स्वायम्भुव मनु के पश्चात् सम्भवतः स्वामी दयानन्द ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति हुआ, जिसने वेद के विषय में स्वायम्भुव मनु के "सर्वज्ञानमयो हि सः"[1] के समान "वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है" ऐसी स्पष्ट घोषणा की[2] और इसी सर्वप्राचीन दृष्टि से ऋग्वेद के साढ़े छ मण्डल और सम्पूर्ण यजुर्वेद का

---

१. मनुस्मृति २।७ मेधातिथि गोविन्दराज आदि की प्राचीन टीकाओं के अनुसार।

२. देखो—आर्यसमाज का तृतीय नियम—'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक

भाष्य करके दर्शा दिया कि वेद वास्तविक रूप में सत्य विद्याओं के पुस्तक हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रति मन्त्र व्याख्या के सम्बन्ध में चाहे कितना ही मतभेद क्यों न हो, परन्तु उन्होंने जिस दृष्टि से वेद का अर्थ किया है, भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी वह वेदार्थ प्रक्रिया वा वेदार्थ की दृष्टि सर्वथा ठीक है, यह तो स्वीकार करना ही होगा। और इससे यह भी मानना होगा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती की मेधा अत्यन्त विमल और सूक्ष्म थी, उसके लिये न देश का व्यवधान था और न काल का, न उस पर किसी प्राचीन ऋषि-मुनि वा सम्प्रदाय का प्रभाव था और न अपने समय का। अतएव उस महापुरुष ने वेदार्थ की समस्त काल्पनिक प्रक्रियाओं का उल्लङ्घन करके अति पुरातन काल की वेदार्थ प्रक्रिया का आश्रयण कर वेद और वेदार्थ की प्रक्रिया का विशुद्ध स्वरूप संसार के सामने उपस्थित किया।

यद्यपि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार और अविद्या से ग्रस्त संसार अभी तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के इस महत्तम कार्य का मूल्याङ्कन नहीं कर पाया, तथापि जब उसकी बुद्धि विमल होगी और मन पवित्र होगा, तब वीतराग योगिराज अरविन्द के समान भगवान् दयानन्द के अवर्णनीय तपःप्रभाव-निर्झरित वेदार्थप्रक्रिया के महत्त्व को समझेगा[1] और एक स्वर से कहेगा – नमः परमर्षये ! नमः परमर्षये !!

है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" यद्यपि स्वामी शङ्कराचार्य ने भी "शास्त्रयोनित्वात्" (१।१।३) ब्रह्मसूत्र के भाष्य में "ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्योपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म" लिखा है, परन्तु यहां ये सब विशेषण ऋग्वेदादि वेदचतुष्टय के ही नहीं हैं अपि तु समस्त शास्त्रों की अपेक्षा से लिखे गये हैं। क्योंकि इस भाष्य और उक्त ब्रह्मसूत्र का मूल बृहदारण्यक की "एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि अस्यैवैतानि निःश्वसितानि" (२।४।१०) श्रुति है। स्वयं शङ्कराचार्यजी ने भी उक्त प्रसङ्ग में इस श्रुति का निर्देश किया है।

१. द्र०—टिप्पणी परिशिष्ट में देखें।

परिशिष्ट

पृष्ठ ६६ की तीसरी टिप्पणी—

हमने इस लेख में ऐतिहासिक काल लिखे हैं, वे हमारे अपने मन्तव्य के अनुसार हैं। उस मन्तव्य का संक्षेप इस प्रकार है—

पृथिवी की उत्पत्ति से अबतक लगभग दो अरब सौर वर्ष व्यतीत हुए हैं। इस सुदीर्घ काल में अनेक बार खण्ड प्रलय हुई, उनसे अनेक बार मनुष्यसृष्टि का क्रम-भङ्ग हुआ। आज से लगभग १७ सहस्र सौर वर्ष पूर्व भी एक ऐसा ही जलौघ आया था (इसका संकेत संसार की समस्त प्राचीन धर्म पुस्तकों में है)। जिससे पूर्व मनुष्य सृष्टि का क्रम-भङ्ग हुआ और नये रूप से मनुष्य सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। वर्तमान मनुष्य सृष्टि को प्रादुर्भूत हुए लगभग १६ सहस्र वर्ष हुए हैं। इन वर्षों की गणना इस प्रकार है-- कृत ४८००, त्रेता ३६००, द्वापर २४०० और कलि १२०० दिव्य वर्ष अर्थात् सब मिलाकर १२००० सहस्र दिव्य वर्ष हुए। ऐतिहासिक काल गणना में दिव्य वर्ष का अर्थ सौर वर्ष है (मानव वर्ष से ३६० गुना बड़ा नहीं)। भारतयुद्ध के ३६ वर्ष के अनन्तर कलि का आरम्भ हुआ और वह भारतयुद्ध के १२३६ वर्ष के (३६+१२००) के अनन्तर समाप्त हो गया। कलिसमाप्ति के समय लोक में प्रसिद्ध कृतयुग के शुभ लक्षण दिखाई न पड़ने और उत्तरोत्तर कलि के अशुभ लक्षणों की वृद्धि के कारण कलिकाल की वृद्धि मानी गई। यथा—'**तदा नन्दात् प्रभृत्येव कलिवृद्धि गमिष्यति**' तथा '**शूद्रा कलियुगस्यान्ते भविष्यन्ति न संशयः**' (जर्नल आफ दि बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसाइटी जि० ३, पृष्ठ ३४६ में उद्धृत)। प्रत्येक युग के २८ अवान्तर विभाग होते हैं (पुराणों में इसका बहुत्र उल्लेख है)। इस प्रकार उक्त कलिवृद्धि भी कलि के २८ वें अवान्तर कलि काल की हुई। इसीलिये संकल्प में पढ़ा जाता है—"**अष्टाविंशतितमे कलियुगे**"। जिस प्रकार हमारे यहां २८वें अवान्तर कलि के काल की वृद्धि मानी गई, उसी प्रकार मुसलमानों में १४वीं शताब्दी की इयत्ता नहीं मानी जाती। मुसलमानों में मानी गई १४ शताब्दियां, भारतीय १४ मन्वन्तर गणना का विकृत रूप हैं।

आज (सं० २०३३ में) कलि को प्रारम्भ हुए ५०७७ वर्ष हुए हैं। उनमें से १२०० वर्ष मुख्य कलि के न्यून करके ३८७७ वर्षों में चतुर्युगी के पूर्वोक्त १२००० वर्ष मिलाने पर १५८७७ सौर वर्ष मानव जल प्लावन (नूह की जल प्रलय) के पश्चात् बीत चुके हैं अर्थात्

वर्तमान मनुष्य सृष्टि को उत्पन्न हुए बीत चुके हैं। इतने वर्षों का प्रायः शृङ्खलाबद्ध इतिहास भारतीय वाङ्मय में सुरक्षित है।

इन सब विषयों पर हम "भारतीय प्राचीन इतिहास की कालगणना" पुस्तक में विस्तार से विवेचना करेंगे।

पृष्ठ ६८ की तीसरी टिप्पणी—मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि ने 'त्रैविद्य' का अर्थ किया है—तिसृणां विद्यानां समाहारः त्रैविद्यम्, तदधीतिनः। धर्मसूत्रों में प्रयुक्त 'त्रैविद्य' का ऐसा ही अर्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने किया है, पर यह व्याकरणशास्त्र से असिद्ध है। महाभाष्य ४।२।६० में उदाहृत 'त्रैविद्य' की व्याख्या में कैयट ने लिखा है—त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या, तामधीत इति प्रत्ययः कार्यः। तिस्रो विद्या वेद इति तु क्रियमाणे द्विगोर्लुग् (अ० ४।१।८८) इति लुक् प्रसङ्गः। अर्थात् तीन अवयववाली=तीन प्रकार की विद्या ऐसा अर्थ करना उचित है। 'तीन विद्याओं को जाननेवाला' ऐसा अर्थ करने पर तद्धितार्थ में द्विगु से उत्तर प्रत्यय का लुक् हो जायेगा। अर्थात् त्रैविद्य शब्द नहीं बनेगा।

ये तीन प्रकार की विद्याएं हैं—दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्म विद्या। वेद में इन तीनों का प्राधान्येन वर्णन होने से चारों वेद त्रिविद्या वा त्रयी कहाते हैं। ऋक् यजुः और साम का क्रमशः पद्य, गद्य और गीति (गान) अर्थ करके चारों वेदों के लिये त्रयी शब्द का व्यवहार उत्तरकालीन है। उससे भी उत्तरकालीन आचार्यों ने ऋक् यजुः और साम के पद्य गद्य और गीति अर्थों की उपेक्षा करके त्रयी शब्द से केवल ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद का ग्रहण मानकर अथर्ववेद को त्रयी से पृथक् कर दिया है। इसी भाव से आचार्य कौटिल्य ने लिखा है—"सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयी, अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः" (१।३)। त्रयी के इसी अवरकालीन अर्थ को मुख्य मानकर पाश्चात्य विद्वान् ऋक्, यजुः और साम, इन तीन को ही प्राचीन वेद मानते हैं और अथर्ववेद को अर्वाचीन कहते हैं। कौटिल्य ने स्वमत में त्रयी को आन्वीक्षिकी और दण्डनीति से पृथक् माना है—'आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः' (१।२) और मानवों के मत में त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये तीन विद्याएं कहीं हैं—'त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति मानवाः, त्रयीविशेषो ह्यान्वीक्षिकी' (१।२)। यदि यहां कौटिल्य का मानवों से अभिप्राय भृगुप्रोक्त मनुस्मृति के अनुयायियों से है, तब उसे अशुद्ध कहना होगा, क्योंकि मनु के उपर्युक्त श्लोक में दण्डनीति आन्वीक्षिकी और अध्यात्म तीनों विद्याओं को या तो त्रयी के अन्तर्गत माना जा सकता है (जैसा कि हमने माना है) या तीनों को त्रयी से पृथक् मानना होगा (जैसा कि मनु के

टीकाकार मानते हैं)। यह नहीं हो सकता कि समान कोटि में पढ़ी हुईं दण्डनीति आन्वीक्षिकी अध्यात्म विद्याओं में से दण्डनीति को त्रयी से पृथक् माना जाये और आन्वीक्षिकी का त्रयी में अन्तर्भाव कहा जाये तथा अध्यात्मविद्या की सर्वथा उपेक्षा की जाये। अतः सम्भव है यहां कौटिल्य को मानवों से स्वायम्भुव के अनुयायी अभिप्रेत न हों। पुराकाल में वैवस्वत मनु तथा प्राचेतस मनु के भी धर्मशास्त्र विद्यमान थे। इनके अनेक उद्धरण धर्मशास्त्रों की प्राचीन टीकाओं में उपलब्ध होते हैं।

यदि मनुस्मृति के उपर्युक्त श्लोक में दण्डनीति आन्वीक्षिकी और अध्यात्मविद्या को 'त्रिविद्या' से पृथक् माना जाये, तो उक्त श्लोक के अर्थ में एक महान् दोष उत्पन्न हो जाता है, वह यह है—त्रिविद्या को त्रैविद्यों (=वेदों के जाननेवालों) से सीखने और वार्तारम्भ को लोक से सीखने का निर्देश श्लोक में मिल जाता है, परन्तु दण्डनीति आन्वीक्षिकी और अध्यात्म विद्याएं किससे सीखी जायें इसका कोई निर्देश नहीं मिलता। अतः दण्डनीति आन्वीक्षिकी और अध्यात्म विद्या को 'त्रिविद्याः' से पृथक् करना भ्रान्ति है।

इस प्रसङ्ग में हमें कौटिल्य की एक बात विशेष रूप से खटकती है और वह है विद्या प्रसङ्ग में अध्यात्मविद्या का उल्लेख न करना। क्या राजाओं के लिये अध्यात्म विद्या आवश्यक नहीं है? यदि नहीं है, तो मनु ने दण्डनीति के समान ही अध्यात्म विद्या सीखने का आदेश राजा के लिये क्यों दिया? कौटिल्य के लेख से तो यही विदित होता है कि वह अध्यात्म विद्या केवल संन्यासियों के लिये ही आवश्यक समझता है। इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तेन।

पृष्ठ ८७ की टिप्पणी २—

चरक के इस पाठ में 'समालभनीया' और 'आलम्भाय' पदों के प्रयोगों से स्पष्ट है कि आङ्पूर्वक 'लभ' का अर्थ 'प्राप्त करना' और आङ्पूर्वक 'लम्भ' का अर्थ 'मारना' है। 'आलम्भ्या वडवा' तथा 'ज्योतिष्टोम आलभ्यः' इत्यादि (काशिका ७।१।६५ में निर्दिष्ट) प्रयोगों की तुलना से भी यही विदित होता है। वस्तुतः 'लम्भ' स्वतन्त्र धातु है। वह 'लभ' का ही रूपान्तर नहीं है। अन्यथा 'समालभनीया' और 'अग्निष्टोम आलभ्यः' इत्यादि प्रयोगों में पाणिनीय शब्दानुशासन (६।१।६४,६५) से नुम् का आगम होकर 'समालम्भनीया' और 'अग्निष्टोम आलम्भ्यः' प्रयोग बनने चाहियें (इसी प्रकार अन्वयव्यतिरेक से प्रकृत्यन्तर का निश्चय होता है)। देखो—महाभाष्य ६।४।२४ 'बृंहिः प्रकृत्यन्तरम्' प्रकरण। अतः जो लोग 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते' (तै० ब्रा० ३।४।१) इत्यादि प्रकरण में 'आलभते' का अर्थ संज्ञपन (मारना) करते हैं, वह,

अशुद्ध है। निघण्टु ३।१४ में अर्चतिकर्मा धातुओं में रञ्जयति रजयति दो धातुओं का निर्देश भी लभ लम्भ दो स्वतन्त्र प्रकृत्यन्तरों का ज्ञापक है।

पृष्ठ १२२ की टिप्पणी ४—

निरुक्तकार ने जहां अनेक प्रकार के निर्वचन दर्शाये हैं वहां उसने 'वा' शब्द का भी प्रयोग किया है। उसे देख कर आधुनिक विद्वान् कहते हैं कि निरुक्तकार को जहां पदों का वास्तविक निर्वचन ज्ञात नहीं था, वहां उसने अटकलपच्चू निर्वचन करके अपने सन्देह को व्यक्त करने के लिये 'वा' पद का प्रयोग कर दिया। आधुनिक विद्वानों का यह मत नितान्त अयुक्त है। निरुक्तकार ने अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति वहीं दर्शाई है, जहां उन अर्थों के मूल कारण पृथक्-पृथक् थे। उन पृथक्-पृथक् कारणों को बतलाने के लिये यास्क यदि व्युत्पत्त्यन्तर न दिखाता तो और क्या करता। इस बात को स्पष्ट करने के लिये हम हिन्दी के दो शब्द उपस्थित करते हैं—काम, घण्टी। हिन्दी में काम शब्द के अर्थ हैं—कामना=विषयवासना और कर्म=क्रिया। इन दो अर्थों का मूल कारण बताने के लिये 'कमु कान्तौ' और 'डुकृञ् करणे' इन दो धातुओं से व्युत्पत्ति दर्शानी ही होगी, क्योंकि हिन्दी के काम शब्द के दो मूल हैं। एक संस्कृत का 'कमु कान्तौ' धातु से निष्पन्न 'काम' शब्द और दूसरा 'डुकृञ् करणे' से निष्पन्न 'कर्म' शब्द। संस्कृत का एक 'काम' शब्द विना किसी परिवर्तन के हिन्दी में पहुंच गया और दूसरा संस्कृत का 'कर्म' शब्द प्राकृत में 'कम्म' होकर 'काम' रूप में परिवर्तित हुआ (प्राकृत का 'कम्म' हिन्दी के 'निकम्मा' शब्द में तथा पञ्जाबी में अभी तक प्रयुक्त होता है) इसी प्रकार हिन्दी में 'घण्टी' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—छोटी लुटिया तथा शब्द करने का छोटा साधन। इन दोनों अर्थों का मूल पृथक्-पृथक् है। लुटिया अर्थवाला घण्टी शब्द संस्कृत के घट शब्द अल्पार्थवाची घटी (छोटा घड़ा) शब्द में णकार का उपजन होकर बना है। अतः इसका निर्वचन 'घट' धातु से करना होगा। और शब्दार्थक घण्टी शब्द का मूल है बृहद्गुणविशिष्ट 'घण्टा'। संस्कृत में 'घण्टा' शब्द स्त्रीलिङ्ग है परन्तु हिन्दी में यह पुंल्लिङ्ग है। संस्कृत में ह्रस्वार्थ में प्रयुक्त होनेवाला 'ई' प्रत्यय जोड़ने से घण्टा से घण्टी शब्द निष्पन्न हुआ है। अतः इसका निर्वचन शब्दार्थक 'घटि'='घण्ट' धातु से करना होगा। इस प्रकार जब समान वर्णानुपूर्वीवाले शब्द के विभिन्न अर्थ हों तो वहां अनेक धातुओं से निर्वचन करना अवश्यंभावी है। यास्क ने स्वयं अपनी इस शैली का प्रतिपादन किया है। वह लिखता है "एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहा विद्यन्ते, तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि, यथार्थं निर्वक्तव्यानि"। २।१०।। उन नाना निर्वचनों का समुच्चय दर्शाने के लिये निरुक्तकार ने

'वा' शब्द का प्रयोग किया है। 'वा' शब्द संस्कृत में समुच्चायर्थक भी है, केवल विकल्पार्थक ही नहीं है।

पृष्ठ १३२ की पहली टिप्पणी—

योगिराज अरविन्द ने स्वामी दयानन्द सरस्वती की वेदार्थ प्रक्रिया के विषय में इस प्रकार लिखा है—

"मैं दयानन्द के वेदभाष्य के आधार रूप उन प्रसिद्ध नियमों का उल्लेख करूंगा, जो मुझे समझ आये हैं।

सायण भाष्य को ठीक समझने वाले लोग दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। महाविद्वान् सायण का भाष्य ऊपर से महत्त्व वाला दिखाई देता हुवा भी वेद का यथार्थ और सीधा अर्थ नहीं है, उसमें पूर्व कल्पित सिद्धान्तों के साथ मन्त्रों की खींचातानी से संगति लगाने की चेष्टा की गई है। पाश्चात्य विद्वान् भी स्वामी दयानन्द के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। उनका परिश्रय शुभेच्छा, अनुसंधान शक्ति से एक शताब्दी में किया गया अर्थ भी ठीक नहीं, क्योंकि इसमें पूर्वापर सम्बन्ध का अभाव है, और संदिग्ध विषयों को प्रमाणभूत मानकर अर्थ किया गया है।

वेदार्थ तो वेद से ही होना चाहिये। इस विषय में दयानन्द सरस्वती का विचार सुस्पष्ट है, उसकी आधारशिला अभेद्य है। वेद के सूक्त भिन्न-भिन्न नामों से एक ईश्वर को ही सम्बोधन करके गाये गये हैं। विप्र अर्थात् ऋषि एक परमात्मा को ही अग्नि, इन्द्र, यम, मातरिश्वा और वायु आदि नामों से बहुत प्रकार से कहते हैं। वैदिक ऋषि अपने धर्म के विषय में मैक्समूलर वा राथ की अपेक्षा अधिक जानते थे। अतः वेद स्पष्ट कहता है कि एक ईश्वर के ही अनेक नाम हैं।

हम जानते हैं, आधुनिक विद्वान् किस प्रकार इस बात की खींचतान करके उलटते हैं। वे कहते हैं, यह सूक्त नये काल का है, ऐसा ऊंचा विचार बहुत प्राचीन आर्य लोगों के मन में नहीं आ सकता था। इसके विपरीत हम देखते हैं कि वेद में सूक्तों पर सूक्त इसी भाव को बताते हैं। अग्नि में ही सब दूसरी दैवी शक्तियां हैं इत्यादि। देवताओं के ऐसे विशेषण हैं, जो सिवाय ईश्वर के और किसी के हो ही नहीं सकते। पाश्चात्य इस बात से घबराते हैं। अहो! वेद का ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिये। क्या सत्य अपने को छिपा ले, बुद्धि मैदान छोड़कर भाग जाये, ताकि एक सिद्धान्त (क्रमिक विकास का) फलफूल सके? मैं पूछता हूं—इस बात में दयानन्द सरस्वती वेद का सीधा अर्थ करता है, वा पाश्चात्य विद्वान्?

बस एक के समझने से, दयानन्द के इस मौलिक सिद्धान्त को मानने से, नहीं, वैदिक ऋषियों के इस विश्वास के जानने से कि सब देवता एक महान् आत्मा के नाम हैं, हम वेद का वास्तविक भाव जान लेते हैं। फिर बस वेद का वही तात्पर्य निकलता है, जो दयानन्द सरस्वती ने इस से निकाला। केवल याज्ञिक अर्थ या सायण का बहु-देवतावाद का अर्थ भस्मीभूत हो जाता है। पाश्चात्यों का केवल अन्तरिक्ष आदि लोकों के देवताओं के सम्बन्ध से किया हुआ अर्थ मटियामेट हो जाता है। इस के स्थान में वेद एक वास्तविक धर्मग्रन्थ, संसार का एक पवित्र पुस्तक, और एक श्रेष्ठ और उच्च धर्म का दैवी शब्द हो जाता है।"

[वैदिक मैगजीन (गुरुकुल कांगड़ी) सन् १९१६ के श्री अरविन्द के अंग्रेजी लेख का भावमात्र।]

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

१. ऋग्वेदभाष्य (संस्कृत हिन्दी; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित)—प्रति भाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां। प्रथम भाग ४०-००, द्वितीय भाग ३५-००, तृतीय भाग ४०-००।

२. यजुर्वेदभाष्य-विवरण—ऋषिदयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त-जिज्ञासुकृत विवरण। प्रथम भाग ११०-००, द्वितीय भाग ५०-००।

३. तैत्तिरीय-संहिता—मूलमात्र, मन्त्रसूचीसहिता। ५०-००

४. तैत्तिरीय-संहिता-पदपाठः—५० वर्ष से दुर्लभ ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन, बढ़िया सुन्दर जिल्द। १००-००

५. अथर्ववेदभाष्य—श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय कृत। काण्ड ४०-००, ७-८ काण्ड ४०-००, ९-१० काण्ड ४०-००, ११-१३ काण्ड ३५-००, १४-१७ काण्ड ३०-००, १८-१९ काण्ड २५-००, बीसवां काण्ड २५-००।

६. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा संपादित एवं शतशः टिप्पणियों से युक्त। साधारण जिल्द ३०-००, पूरे कपड़े की ३५-००।

७. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका-परिशिष्ट—भूमिका पर किये गये आक्षेपों के ग्रन्थकार द्वारा दिये उत्तर। ४०-००

८. माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ—शुद्ध संस्करण। ४०-००

९. गोपथ-ब्राह्मण (मूल)—सम्पादक श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि। अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों से अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण। ५०-००

१०. वैदिक-सिद्धांत-मीमांसा—पं० युधिष्ठिर मीमांसक लिखित वेद-विषयक १७ विशिष्ट निबन्धों का अपूर्व संग्रह। यन्त्रस्थ

११. कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी—(ऋग्वेदीया)—षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृतटीका सहित। टीका का पूरा पाठ प्रथम बार छापा गया है। विस्तृत भूमिका और अनेक परिशिष्टों से युक्त। १००-००

१२. ऋग्वेदानुक्रमणी—वेङ्कटमाधवकृत। इस ग्रन्थ में स्वर छन्द

आदि आठ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया है। व्याख्याकार श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि। उत्तम संस्करण ३५-००, साधारण २५-००।

१३. **वैदिक-साहित्य-सौदामिनी**—स्व० श्री पं० वागीश्वर वेदालंकार। काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण आदि के समान वैदिक साहित्य पर शास्त्रीय विवेचनात्मक ग्रन्थ। बढ़िया जिल्द ५०-००।

१४. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या** – युधिष्ठिर मीमांसक। ५-००

१५. **वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञा-मीमांसा** (संस्कृत-हिन्दी)—यु०मी० २-५०

१६. **वैदिक-छन्दोमीमांसा**—यु० मी०। नया संस्करण २५-००

१७. **वैदिक-स्वर-मीमांसा**—यु० मी०। नया संस्करण ३०-००

१८. **वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वरांकन-प्रकार**—यु० मी०। ६-००

१९. **वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय, वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा**—(संस्कृत-हिन्दी)—यु० मी०। ८-००

२०. **देवापि और शन्तनु के आख्यान का वास्तविक स्वरूप**—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। २-५०

२१. **वेद और निरुक्त**—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। २-५०

२२. **निरुक्तकार और वेद में इतिहास**—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। २-५०

२३. **त्वाष्ट्री सरण्यू की वैदिक कथा का वास्तविक स्वरूप** -लेखक—श्री पं० धर्मदेवजी निरुक्ताचार्य। २-५०

२४. **वैदिक-जीवन** – श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर वैदिक-जीवन के सम्बन्ध में लिखा गया अत्यन्त उपयोगी स्वाध्याययोग्य ग्रन्थ। अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००।

२५. **वैदिक-गृहस्थाश्रम** – श्री पं० विश्वनाथजी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। अजिल्द २६-००, सजिल्द ३०-००।

२६. **यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा**—ले०— पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। बढ़िया जिल्द २५-००, साधारण जिल्द २०-००।

२७. **शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयन समीक्षा**—लेखक—पं० विश्वनाथजी वेदोपाध्याय। ४५-००

२८. **ऋग्वेद-परिचय**—श्री पं० विश्वनाथजी विद्यामार्तण्ड। ऋग्वेद का परिचयात्मक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००।

२९. **वैदिक-पीयूष धारा**—लेखक—श्री देवेन्द्र कुमार जी कपूर। चुने हुए ५० मन्त्रों की प्रतिमन्त्र पदार्थपूर्वक विस्तृत व्याख्या, अन्त में भावपूर्ण गीतों से युक्त। उत्तम जिल्द १५-००, साधारण १०-००।

३०. **क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है?**—लेखक—श्री वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री। १२-००

३१. **उरु-ज्योति**—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित वेदविषयक स्वाध्याययोग्य निबन्धों का संग्रह। सुन्दर छपाई। पक्की जिल्द। १८-००

३२. **वेदों की प्रामाणिकता**—डा० श्रीनिवास शास्त्री। १-५०

३३. Anthology of Vedic Hymns—स्वा० भूमानन्द सरस्वती ६०-००

३४. **बौधायन-श्रौत-सूत्रम्**—(दर्शपूर्णमास प्रकरण)—भवस्वामी तथा सायणकृत भाष्य सहित (संस्कृत)। ४०-००

३५. **बौधायन-श्रौत-सूत्रम्**—(आधान-प्रकरण)—सुबोधिनी वृत्ति सहित (संस्कृत)। ४०-००

३६. **दर्शपूर्णमास-पद्धति**—पं० भीमसेन कृत, भाषार्थ सहित। २५-००

३७. **कात्यायन-गृह्यसूत्रम्** (मूलमात्र)—अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने इसे प्रथम बार छापा है। २५-००

३८. **श्रौतयज्ञमीमांसा** (संस्कृत और हिन्दी)—श्रौतयज्ञों की कल्पना का आधार, उनका विकास, परिवर्तन, पशुयज्ञ आदि अनेक विषयों की सप्रमाण मीमांसा। ३०-००

३९. **श्रौतपदार्थ-निर्वचनम्**(संस्कृत)—अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त आध्वर्यव पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ। सजिल्द ४०-००

४०. **संस्कार-विधि**—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। मूल्य लागतमात्र २०-००, राजसंस्करण २५-००, सस्ता संस्करण ९-००, अच्छा कागज सजिल्द १२-००।

४१. **वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश**—पं० बालाजी विठ्ठल गांवस्कर द्वारा मूल मराठी में लिखे गये ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद। इसी का गुजराती अनुवाद संशोधित संस्कार-विधि का आधार बना। २०-००

४२. **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय**

—इस ग्रन्थ में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, सुपर्णचिति सहित सोमयाग, चातुर्मास्य और वाजपेय आदि यागों का वर्णन है। (दोनों भाग एकत्र) १२-००

४३. संस्कार-विधि-मण्डनम्—संस्कारविधि की व्याख्या। लेखक—वैद्य श्री रामगोपाल जी शास्त्री। अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००।

४४. वैदिक-नित्यकर्म-विधि—सन्ध्यादि पांचों महायज्ञ तथा बृहद् हवन के मन्त्रों को पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित। यु० मी०। ६-००, सजिल्द ८-००।

४५. वैदिक-नित्यकर्म-विधि (मूलमात्र)—सन्ध्या तथा स्वस्तिवाचन आदि विधि बृहद् हवन के मन्त्रों सहित। १-५०

४६. पञ्चमहायज्ञ विधि—ऋषिदयानन्द कृत। १-००

४७. पञ्चमहायज्ञप्रदीप—श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर। ५-००

४८. हवनमन्त्र—स्वस्तिवाचनादि सहित। ०-६०

४९. वर्णोच्चारण-शिक्षा—ऋषि दयानन्द कृत हिन्दी व्याख्या। ०-७५

५०. शिक्षासूत्राणि—आपिशल-पाणिनीय-चान्द्रशिक्षा-सूत्र। ७-००

५१. शिक्षा शास्त्रम् (संस्कृत)—जगदीशाचार्य। १०-००

५२. शिक्षा महाभाष्यम् (संस्कृत)—जगदीशाचार्य। १२-००, सजिल्द १५-००

५३. वृद्धशिक्षा-शास्त्रम्— " " " । २५-००, सजिल्द ३०-००

५४. निरुक्त श्लोकवार्तिकम्—केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित। एकमात्र मलयालम लिपि में ताडपत्र पर लिखित दुर्लभ प्रति के आधार पर मुद्रित। आरम्भ में उपोद्घातरूप में निरुक्त-शास्त्र विषयक संक्षिप्त ऐतिह्य दिया गया है (संस्कृत)। सम्पादक—डा० विजयपाल विद्या-वारिधि। उत्तम कागज शुद्ध छपाई तथा सुन्दर जिल्द सहित। १२५-००

५५. निरुक्त समुच्चय—आचार्य वररुचि विरचित (संस्कृत)। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। २०-००

५६. अष्टाध्यायीसूत्रपाठ (मूल)—शुद्ध संस्करण। ६-००

५७. अष्टाध्यायी भाष्य (संस्कृत तथा हिन्दी)—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। भाग—I ५०-००, भाग—II ३२-००, भाग—III ३८-००।

५८. धातुपाठ धात्वादिसूची सहित, शुद्ध संस्करण। ५-००

५९. क्षीरतरङ्गिणी—क्षीरस्वामी कृत। पाणिनीय धातुपाठ की सबसे

प्राचीन एवं प्रामाणिक व्याख्या। सजिल्द ६०-००

६०. धातुप्रदीप—मैत्रेयरक्षित विरचित पाणिनीय धातुपाठ की व्याख्या। सजिल्द ४०-००

६१. वामनीय लिङ्गानुशासनम्—स्वोपज्ञव्याख्यासहितम्। १०-००

६२. संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि—लेखक—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। पहला भाग १५-००। दूसरा भाग—युधिष्ठिर मीमांसक २५-००।

६३. The Tested Easiest Method of Learning and Teaching Sanskrit (First Book)—यह पुस्तक श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कृत 'बिना रटे संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि' भाग १ का अंग्रेजी अनुवाद है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण में प्रवेश करने वालों के लिये यह आधिकारिक पुस्तक है। कागज और छपाई सुन्दर। सजिल्द २५-००

६४. महाभाष्य (हिन्दी व्याख्या)—(द्वितीय अध्याय पर्यन्त) यु० मी० भाग—I ६०-००, भाग—II ५०-००, भाग—III ३०-००।

६५. उणादिकोष—ऋषि दयानन्द कृत व्याख्या तथा पं० यु० मी० कृत टिप्पणियों एवं ११ सूचियों सहित। अजिल्द १५-००, सजिल्द २०-००।

६६. दशपाद्युणादि-वृत्ति-संग्रहः—(प्रथम भाग में अतिप्राचीन वृत्ति विस्तृत उपोद्घात एवं सूत्रसूची शब्दसूची आदि के सहित)। ५०-००

द्वितीय भाग—(तीन प्राचीन वृत्तियां)। सं०—चन्द्रदत्तशर्मा। ४०-००

६७. दैवम् पुरुषकारवार्त्तिकोपेतम्—लीलाशुकमुनि कृत। १२-००

६८. भागवृत्तिसंकलनम्—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति। ८-००

६९. काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्—संस्कृत रूपान्तर। यु० मी० २०-००

७०. काशकृत्स्न-व्याकरणम्—सम्पादक—यु० मी०। १०-००

७१. शब्दरूपावली—बिना रटे शब्दरूपों का ज्ञान करानेवाली। ३-५०

७२. गणरत्नावली—यज्ञेश्वरभट्ट कृत। सं०—चन्द्रदत्तशर्मा। ६५-००

७३. संस्कृत-धातु-कोष—पाणिनीय धातुओं का हिन्दी में अर्थनिर्देश। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। १५-००

७४. अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः—डा० विजयपाल विरचित पी० एच० डी० का महत्त्वपूर्ण शोधप्रबन्ध (संस्कृत)। सुन्दर छपाई, उत्तम कागज, बढ़िया जिल्द सहित। ५०-००

७५. **सूर्य-सिद्धान्त**—हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याता—श्री उदयनारायणसिंह। इसके आरम्भ में १४६ पृष्ठ की अति विस्तृत एवं विविध विषय परिपूर्ण महत्त्वपूर्ण भूमिका छपी है। ५०-००

७६. **पिंगलनाग-छन्दोविचितिभाष्यम्**—यादवप्रकाशकृत। यह दुर्लभ ग्रन्थ प्रथम बार मुद्रित हुआ है। ४०-००

७७. **ईश-केन-कठ-उपनिषद्**—श्री वैद्य रामगोपाल शास्त्री कृत हिन्दी अंग्रेजी व्याख्या सहित। ईशो० २-००, केनो० २-००, कठो० ४-००।

७८. **तत्त्वमसि अथवा अद्वैत मीमांसा**—लेखक—श्री स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती। ईश्वर जीव और प्रकृतिरूप तीनों मूल तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाला दार्शनिक ग्रन्थ। ४०-००

७९. **ध्यानयोग प्रकाश**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के योगविद्या के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्द कृत। बढ़िया पक्की जिल्द। १६-००

८०. **अनासक्तियोग**—लेखक—श्री पं० जगन्नाथ पथिक। नया संस्करण। ३५-००

८१. **आर्याभिविनय**(हिन्दी)—स्वामी दयानन्द। गुटका सजिल्द १०-००

८२. Aryabhivinaya—English translation and notes (स्वामी भूमानन्द)दोरङ्गी छपाई। सजिल्द १०-००

८३. **विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम्**—(सत्यभाष्य-सहितम्)—पं० सत्यदेव वासिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य। सम्पूर्ण चार भागों में २००-००

८४. **शुक्रनीतिसार**—भारतीय राजनीति का परम प्रामाणिक ग्रन्थ। व्याख्याकार—श्री स्वा० जगदीश्वरानन्दजी सरस्वती। विस्तृत विषय-सूची तथा श्लोक सूची सहित। उत्तम कागज, सुन्दर छपाई तथा जिल्द सहित। ५०-००

८५. **विदुरनीति**—इस में राजनीति और धर्मनीति दोनों का अद्भुत समन्वय है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत प्रतिपद पदार्थ और व्याख्या सहित। बढ़िया कागज, पक्की सुन्दर जिल्द। ४०-००

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट

बहालगढ़, जिला सोनीपत (हरयाणा)१३१०२१

रामलाल एण्ड संस, २५९६ नई सड़क, दिल्ली।